लघुसिद्धान्तकौमुदी

संज्ञातः सन्धि-प्रकरणपर्यन्ता

रामनारायणलाल बेनीमाधव

श्रीमद्वरदराजविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

[संज्ञातः सन्धिप्रकरणपर्यन्ता]

सरलहिन्दीटीकाटिप्पणीविभूषिता

व्याख्याकारः

तारिणीश झाः

व्याकरणवेदान्ताचार्यः

प्रकाशकः

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२

...य संस्करण] १९७१ [मूल्य ७५ पैसे

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

५ अगस्त, १९७१

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

भूमिका

संस्कृत-साहित्य अपनी महनीय विशेषताओं के कारण विश्व की किसी भी समुन्नत एवं समृद्ध भाषा के साहित्य से अणुमात्र भी पीछे नहीं है। उसका विशाल भाण्डार उन अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण है, जिनकी अक्षुण्ण ओजस्विता सहस्रों वर्षों से हमारे विचार-जगत् को अनुप्राणित करती आ रही है। संस्कृत भाषा की अपनी एक मौलिक विशेषता यह है कि उसके ऊर्जस्वी प्रणेताओं ने जीवन के प्रति जिन उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की है, वे बहुत उदार हैं और उनमें मानवीय जगत् को समाहित कर देने की व्यापकता विद्यमान है। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्यकारों ने अपनी भावी पीढ़ियों को जो कुछ भी दिया, वह देश और काल की सीमा से परिच्छिन्न न होकर आज भी हमारे लिए नित्य-नवीन है।

संस्कृतवाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का स्थान सर्वमूर्धन्य है, क्योंकि इसके ज्ञान के विना शास्त्रान्तर का ज्ञान होना असंभव है। कहा भी है :--

'यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमनन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्,
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥'
(भास्कराचार्य)

यद्यपि अनेक व्याकरणों के नाम सुने जाते हैं, किन्तु उनमें प्रधानतया नौ व्याकरण हैं--ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल, शाकल और पाणिनीय। इनमें पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर एवं वैज्ञानिक रचना-शैली की प्रशंसा देश-विदेश के सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है। इसके रचयिता तीन मुनि माने जाते हैं—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि। इनमें उत्तरोत्तर प्रामाण्य है अर्थात् पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन का मत अधिक मान्य है

और कात्यायन से बढ़कर पतञ्जलि का मत आदरणीय समझा जाता है। किन्तु इस व्याकरण के प्रथम रचयिता पाणिनि हैं। इसलिए उन्हीं के नाम से इसकी ख्याति हुई। मुनित्रय का परिचय क्रमशः इस प्रकार है—

शालातुर (आधुनिक लाहौर नगर) नामक ग्राम में पाणिनि का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम शलङ्क और माता का नाम दाक्षी था। इतिहासकारों ने पाणिनि का समय ७०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच का माना है। कथासरित्सागर के अनुसार पाणिनि वर्षाचार्य के शिष्य थे। उनके सहपाठी थे—कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त। उन्हें आचार्य वर्ष से जो शिक्षा प्राप्त हुई, उससे वे संतुष्ट नहीं हुए। अतएव प्रयाग में आकर उन्होंने भगवान् शङ्कर की उपासना की। प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें १४ माहेश्वर सूत्र (अइउण् इत्यादि) प्रदान किये। उन सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें लगभग चार सहस्र सूत्र हैं। यह विश्व का एक आदर्श ग्रन्थ है। इसमें सर्वाङ्गपूर्ण अनुसंधान तथा पारिभाषिक पूर्णता है। यह कहा जाता है कि आचार्य व्याडि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की व्याख्या के रूप में एक लाख श्लोकों से युक्त एक संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा था। पतञ्जलि ने इस ग्रन्थ के उद्धरण दिये हैं, परन्तु यह ग्रन्थ अब नष्ट हो गया है।

कात्यायन का जन्म कौशाम्बी में हुआ था। उनके पिता का नाम सोमदत्त और माता का नाम वसुदत्ता था। उनके दो नाम और सुने जाते हैं—श्रुतधर और वररुचि। कथासरित्सागर के अनुसार कात्यायन का वही समय ठहरता है, जो पाणिनि का है; किन्तु कुछ लोग कात्यायन का समय ५०० ई० पू० और ३५० ई० पू० के बीच में मानते हैं। कात्यायन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की व्याख्या के रूप में वार्तिक लिखे हैं। उन्होंने अष्टाध्यायी में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करने के साथ कई स्थानों पर अपने सुझाव प्रस्तुत किये हैं और कई स्थानों पर पाणिनि के नियमों को अनावश्यक भी बताया है।

भगवान् पतञ्जलि को आदि शेष का अवतार माना जाता है। उन्होंने

गोणिका नामक महासती से जन्म ग्रहण किया था। उनकी जन्म-भूमि गोनर्द (गोंडा वा चिदम्बरम्) है। उनका समय १५० ई० पू० के लगभग है। उन्होंने महाभाष्य नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें पाणिनि का भरपूर समर्थन किया है। कात्यायन ने पाणिनि के कतिपय स्थलों पर जो आक्षेप किये हैं; उनका उत्तर पतञ्जलि ने दिया है। महाभाष्य की शैली अत्यन्त मनोरम और सरल है।

उपर्युक्त त्रिमुनियों के ग्रन्थों की अनेक टीका-टिप्पणियाँ हुईं और उनके आधार पर व्याकरण के कतिपय ग्रन्थ भी लिखे गये। किन्तु १६३० ई० में अप्पय-दीक्षित के शिष्य भट्टोजिदीक्षित ने जो सिद्धांतकौमुदी की रचना की, उसने इतना प्रभाव डाला कि उससे पहले के सभी ग्रन्थ उसके सामने तुच्छ पड़ गये। उसकी सुललित और सुबद्ध रचना-शैली को देखकर सभी विद्वान् उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे—'कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः। कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।'

महामहोपाध्याय भट्टोजिदीक्षित के शिष्य आचार्य वरदराज ने लगभग १६५० ई० में अपने गुरु की आज्ञा से सिद्धांतकौमुदी के संक्षिप्त संस्करण मध्यसिद्धांतकौमुदी और लघुसिद्धांतकौमुदी नामक ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए यह लघुसिद्धांतकौमुदी परमोपयोगी है। इसे सुचारु रूप से पढ़कर अल्प समय में ही संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि संस्कृत में लघुसिद्धांतकौमुदी की विविध टिप्पणियाँ निकल चुकी हैं और आये दिन इसकी हिन्दी टीकाएँ भी देखने को मिलती हैं तो भी मेरा यह हिन्दी अनुवाद करने का प्रयास इसलिए हुआ है कि सरल सुबोध शैली में ग्रन्थ के आशय को समझाने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया है। हाँ, मुझे अपने प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो विज्ञ पाठक ही बतायेंगे। पर विद्यार्थियों को मेरी कृति से कुछ भी लाभ हुआ तो मैं संतोष ग्रहण करूँगा।

प्रयाग

गङ्गादशहरा

२०१९ वि०

विदुषां विधेयः

श्रीतारिणीशझाः

प्रत्याहार

१—अक्—अ इ उ ऋ ऌ ।

२—अच्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ।

३—अट्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ।

४—अण्—अ इ उ ।

५—अण्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ।

६—अम्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न ।

७—अल्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह ।

८—अश्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ।

९—इक्—इ उ ऋ ऌ ।

१०—इच—इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ।

११—इण्—इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ।

१२—उक्—उ ऋ ऌ ।

१३—एङ्—ए ओ ।

१४—एच्—ए ओ ऐ औ ।

१५—ऐच्—ऐ औ

१६—खय्—ख फ छ ठ थ च ट त क प ।

१७—खर्—ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ।

१८—ङम्—ङ ण न ।

१९—चय्—च ट त क प ।

२०—चर्—च ट त क प श ष स ।

२१—छव्—छ ठ थ च ट त ।

२२—जश्—ज ब ग ड द ।

२३—झय्—झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प ।

२४—झर्—झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ।

२५—झल्—झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।

२६—झश्—झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।

२७—झष्—झ भ घ ढ ध।

२८—बश्—ब ग ड द।

२९—भष्—भ घ ढ ध।

३०—मय्—म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प।

३१—यञ्—य व र ल ञ म ङ ण न झ भ।

३२—यण्—य व र ल।

३३—यम्—य व र ल ञ म ङ ण न।

३४—यय्—य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प।

३५—यर्—य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स।

३६—रल्—र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।

३७—वल्—व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।

३८—वश्—व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।

३९—शर्—श ष स।

४०—शल्—श ष स ह।

४१—हल्—ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।

४२—हश्—ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।

---

* ओम् *

लघुसिद्धान्तकौमुदी

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अन्वय--अहम् देवीं शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं नत्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघु-सिद्धान्तकौमुदीम् करोमि ।

अनुवाद—मैं (वरदराजभट्टाचार्य) प्रकाशपूर्ण, शुद्ध (विकाररहित या स्फटिक के समान धवल) और प्रशस्त गुण (सत्त्व) से युक्त सरस्वती को नमस्कार करके पाणिनि के बनाये हुए व्याकरण-शास्त्र में (बालकों की बुद्धि के) प्रवेश के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना करता हूँ ।

टिप्पणी--**लघुसिद्धान्तकौमुदी**--कौ पृथिव्यां मोदयति हर्षयति इति कुमुदः अथवा मोदते इति मुदः कोर्मुदः कुमुदः चन्द्रः तस्य इयं ज्योत्स्ना कौमुदी । सिद्धः निष्पन्नः अन्तः निर्णयः यस्मिन् सः सिद्धान्तः, तस्य कौमुदी सिद्धान्तकौमुदी । लघ्वी चासौ सिद्धान्तकौमुदी लघुसिद्धान्तकौमुदी ।

अ इ उ ण् १ । ऋ लृ क् २ । ए ओ ङ् ३ । ऐ औ च् ४ । ह य व र ट् ५ । ल ण् ६ । ञ म ङ ण न म् ७ । झ भ ञ् ८ । घ ढ ध ष् ९ । ज ब ग ड द श् १० । ख फ छ ठ थ च ट त व् ११ । क प य् १२ । श ष स र् १३ । ह ल् १४ ।

ये चौदह सूत्र हैं । संस्कृत भाषा में जिन अक्षरों का उपयोग होता है, वे सभी इन सूत्रों में बँधे हुए हैं । इनसे क्या कार्य होता है, वह आगे बतायेंगे । ये सूत्र आचार्य पाणिनि को शङ्कर से प्राप्त हुए थे । कहते हैं कि एक बार कात्यायन (पाणिनीय व्याकरण के वार्तिकों के रचयिता) से परास्त होकर पाणिनि तीर्थराज प्रयाग में अक्षयवट के नीचे, जहाँ सनकादि ऋषिगण तपस्या में संलग्न

थे, तप करने लगे। अनन्तर उनकी तपस्या से संतुष्ट होकर भगवान् शङ्कर ने उन्हें दर्शन देकर चौदह बार अपना डमरू बजा दिया। यह बात नन्दिकेश्वर ने अपनी काशिका में लिखी है——

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

डमरू के शब्द से पाणिनि ने उपर्युक्त चौदह सूत्र ग्रहण किये, जिनके आधार पर उन्होंने शृङ्खलाबद्ध अष्टाध्यायी की रचना की। उसी अष्टाध्यायी से पाणिनीय व्याकरणशास्त्र पल्लवित हुआ।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।

ये शङ्कर से प्राप्त सूत्र अण् आदि संज्ञा (प्रत्याहार) की सिद्धि के लिए हैं। इन (सूत्रों) के अन्तिम वर्ण (ण्, क् आदि) इत्संज्ञक होते हैं (अर्थात् इत् कहलाते हैं)। हकार आदि में (अर्थात् ह य व आदि में) अकार (ह्+अ, य्+अ, व्+अ आदि केवल) वर्णों का उच्चारण करने के लिए है। 'लण्' सूत्र के मध्य में (लकारोत्तरवर्ती अकार ल्+अ) इत्संज्ञक है (अर्थात् केवल उच्चारणार्थक नहीं है, क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहार बनता है)।

टिप्पणी——माहेश्वराणि——महेश्वर (शङ्कर) से प्राप्त होने के कारण ये चौदह सूत्र माहेश्वर कहलाते हैं। 'महांश्चासौ ईश्वरः महेश्वरः, तस्मात् आगतानि माहेश्वराणि, महेश्वर + अण् 'तत आगतः' इति सूत्रेण। इनको प्रत्याहार सूत्र भी कहते हैं; क्योंकि इनके द्वारा प्रत्याहार बनते हैं। पूर्व के किसी सूत्र का कोई वर्ण लेकर उसको यदि आगे के किसी इत्संज्ञक वर्ण के पहले जोड़ दें तो जो प्रत्याहार बनेगा, वह उस पूर्व वर्ण का तथा उसके और इत्संज्ञक वर्ण के बीच के सभी वर्णों का (बीच में पड़ने वाले इत्संज्ञकों को छोड़कर) बोधक होगा। जैसे——अक् प्रत्याहार अ इ उ ऋ लृ का बोधक होता है। इसी तरह अन्य प्रत्याहारों में भी अनुगम कर लेना चाहिए।

हलन्त्यम् १।३।३॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।

हल् प्रथमान्त पद है और अन्त्यम् भी प्रथमान्त पद है। उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा हो (अर्थात् उपदेश अवस्था में जो व्यञ्जन वर्ण रहता है, उसकी इत्संज्ञा होती है) । उपदेश कहते हैं प्रथम उच्चारण को । सूत्रों में जो पद दिखायी न दे, उसकी अनुवृत्ति सभी जगह दूसरे सूत्रों से कर लेनी चाहिए ।

टिप्पणी--उपदेश--पाणिनि या कात्यायन या पतंजलि ने जिसका पहला उच्चारण किया, वह उपदेश कहलाता है। उपदेश का लक्षण यह है—'धातु-सूत्रगणोणादिवाक्यलिंगानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥' **अनुवर्तनम्--**किसी सूत्र का अर्थ स्पष्ट या पूरा करने के लिए पूर्ववर्ती सूत्रों से कुछ पदों को उस सूत्र में ले आना अनुवृत्ति या अनुवर्तन कहलाता है।

अदर्शनं लोपः १। १। ६०॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

तस्य लोपः १। ३। ९॥

तस्येतो लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ।

अदर्शनम् प्रथमान्त, लोपः प्रथमान्त। प्राप्त का अदर्शन लोपसंज्ञक होता है (अर्थात् जिसका उच्चारण शास्त्र से या अर्थ से प्राप्त या विद्यमान है, उसके अभाव को लोप कहते हैं) । तस्य षष्ठ्यन्त, लोपः प्रथमान्त । उसी इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो (अर्थात् जिसकी इत्संज्ञा होती है, उसका लोप हो जाता है) । (अइउण् आदि सूत्रों के अंतिम वर्ण) ण् आदि अण् प्रत्याहार की सिद्धि के लिए है ।

टिप्पणी--अणाद्यर्थाः--अण् आदिर्येषां ते अणादयः, ते अर्थः प्रयोजनं येषां ते अणाद्यर्थाः ।

आदिरन्त्येन सहेता १। १। ७१॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् यथा--'अण्' इति अइउवर्णानां संज्ञा एवमच्-हल्-अलित्यादयः ।

आदि: प्रथमान्त, अन्त्येन तृतीयान्त, सह अव्यय, इता तृतीयान्त । अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आया हुआ आदिम वर्ण मध्यवर्ती वर्णों का और अपना भी बोधक हो। जैसे—'अण्' (प्रत्याहार) अ, इ, उ वर्णों की संज्ञा (बोधक) है। इसी प्रकार अच्, हल् और अल् आदि (प्रत्याहार भी अपने तथा मध्यवर्ती वर्णों के बोधक होते) हैं।

टिप्पणी—आदि.........—यहाँ आदि का तात्पर्य है जो प्रत्याहार बनाना हो, उसके आद्य वर्ण से। जैसे—अण् प्रत्याहार में, जो 'अइउण्' सूत्र के अ और ण् से सिद्ध होता है। आद्य या आदिम वर्ण अ है। इसमें अन्त्य या अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण ण् है और मध्यवर्ती वर्ण इ उ हैं। इसका आद्य वर्ण अपना और मध्यवर्ती वर्णों का भी बोधक होता है। अन्त्य वर्ण का तो लोप ही हो जाता है। फलत: अण् प्रत्याहार अ इ उ इन तीन वर्णों का बोधक बनता है। इसी तरह अन्य प्रत्याहारों में भी समझना चाहिए।

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १। २। २७।।

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमात् ह्रस्व-दीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

ऊकाल: प्रथमान्त, अच् प्रथमान्त, ह्रस्वदीर्घप्लुत: प्रथमान्त। उकार, ऊकार, ऊ३कार के उच्चारण-काल के सदृश उच्चारण-काल जिसमें अ (प्रत्याहारघटक वर्ण) का हो, उसकी क्रमश: ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा होती है (अर्थात् उकार के समान वर्ण ह्रस्व, ऊकार के समान वर्ण दीर्घ और ऊ३कार के समान वर्ण प्लुत कहलाता है)। वह प्रत्येक (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत वर्ण) उदात्त आदि के भेद से (अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित रूप धर्म-भेद के कारण) तीन प्रकार का होता है।

टिप्पणी—वर्णसमाम्नाय में अकार पहले आता है। उसे छोड़कर उकार का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि मुर्गे के शब्द—कु, कू, कू३ घटक उकार—में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत या एक, दो, तीन मात्राओं की प्रसिद्धि है। श्रुतबोध में ह्रस्व आदि का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ।।'

उच्चैरुदात्तः १। २। २९॥

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ।

नीचैरनुदात्तः १। २। ३०॥

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ।

समाहारः स्वरितः १। २। ३१॥

उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

उच्चैः अव्यय, उदात्तः प्रथमान्त । भाग या अवयव सहित तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित होने वाला अच् (अर्थात् अच्प्रत्याहार घटक अ, इ, उ इत्यादि वर्ण) उदात्त कहलाता है । नीचैः अव्यय, अनुदात्तः प्रथमान्त । भागविशिष्ट तालु आदि स्थानों के निचले भाग से उच्चारित होने वाला अच् अनुदात्त कहलाता है । उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनों वर्णधर्म जिसमें इकट्ठे हों, वह अच् स्वरित कहलाता है (अर्थात् जो स्वर वर्ण उदात्त और अनुदात्त दोनों हो, उसे स्वरित कहते हैं) । (उदात्त आदि भेद से) नौ प्रकार का वह (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञक,) अच् प्रत्येक अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—नवविधोऽपि······—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इन तीनों में से प्रत्येक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होता है । जैसे—ह्रस्वोदात्त, ह्रस्वानुदात्त, ह्रस्वस्वरित; दीर्घोदात्त, दीर्घानुदात्त, दीर्घस्वरित; प्लुतोदात्त, प्लुतानुदात्त, प्लुतस्वरित । फिर इन नवों में से प्रत्येक अनुनासिक और अननुनासिक होता है । इस प्रकार इनकी संख्या १८ हो जाती है । जैसे—१—ह्रस्वोदात्तानुनासिक, २—ह्रस्वोदात्ताननुनासिक, ३—ह्रस्वानुदात्तानुनासिक, ४—ह्रस्वानुदात्ताननुनासिक, ५—ह्रस्वस्वरितानुनासिक, ६—ह्रस्वस्वरिताननुनासिक; ७—दीर्घोदात्तानुनासिक, ८—दीर्घोदात्ताननुनासिक, ९—दीर्घानुदात्तानुनासिक, १०—दीर्घानुदात्ताननुनासिक, ११—दीर्घस्वरितानुनासिक, १२—दीर्घस्वरिताननुनासिक; १३—प्लुतोदात्तानुनासिक, १४—प्लुतोदात्ताननुनासिक, १५—प्लुतानुदात्तानुनासिक, १६—प्लुतानुदात्ताननुनासिक, १७—प्लुतस्वरितानुनासिक, १८—प्लुतस्वरिताननुनासिक ।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १। १। ८॥

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात् । तदित्थम्——अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः । ऌवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश तेषां ह्रस्वाभावात ।

मुखनासिकावचनः प्रथमान्त, अनुनासिकः प्रथमान्त । मुँह और नाक के द्वारा उच्चारित किया जाने वाला वर्ण अनुनासिक कहलाता है । इसलिए ऐसा है कि अ, इ, उ, ऋ इन वर्णों में से प्रत्येक अठारह प्रकार का हो जाता है । ऌकार बारह प्रकार का होता है; क्योंकि उसमें दीर्घ का अभाव है । एचों के भी बारह भेद होते हैं; क्योंकि उनमें ह्रस्द का अभाव है ।

टिप्पणी——मुख·········——मुखेन सहिता नासिका मुखनासिका, उच्यते असौ वचनः, मुखनासिकया वचनः मुखनासिकावचनः । नासैव नासिका, तामनुगतः अनुनासिकः ।

तदित्थम्——'ऊकालः'——इत्यादि से लेकर 'मुखनासिका'——इत्यादि तक पाँचों सूत्रों से जो फलित हुआ, वह इस प्रकार है । **एचामपि**——एच्प्रत्याहारघटक वर्णों——ए, ओ, ऐ, औ——के भी ।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १। १। ९॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात् । [ऋऌवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्] ।

तुल्यास्यप्रयत्नम् प्रथमान्त, सवर्णम् प्रथमान्त । जिन दो वर्णों के तालु, आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों, वे दोनों परस्पर सवर्ण संज्ञा वाले होते हैं । ऋकार और ऌकार की (स्थान-भिन्नता होने पर भी) परस्पर सवर्णसंज्ञा कहनी चाहिए ।

टिप्पणी——*तुल्यास्यप्रयत्नम्*——तोलनं तुला, तुलया सम्मितं तुल्यम्, आस्ये भवम् आस्यम्, तुल्यञ्च तुल्यश्च तुल्ये, आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत तुल्यास्यप्रयत्नम् । **सवर्णम्**——सवर्णसंज्ञा होने पर दोनों वर्ण एक से समझे जाते हैं ।

अकुहविसर्जनीयानां कंठः । इचुयशानां तालु । ऋटुरषाणां मूर्धा । ऌतुल-

सानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठ-तालु। ओदौतोः कंठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग (:) का स्थान कण्ठ है (अतएव ये कण्ठ्य वर्ण कहलाते हैं)। इकार, चवर्ग, य और श का स्थान तालु (=ऊपर के दाँतों और कौवे के बीच का गड्ढा) है (अतएव इनको तालव्य कहते हैं)। ऋकार, टवर्ग, र और ष का स्थान मूर्धा (=मस्तक) है (अतएव इनको मूर्धन्य कहते हैं)। लृकार, तवर्ग, ल और स का स्थान दन्त (=दाँत) है (अतएव इनको दन्त्य कहा जाता है)। उकार, पवर्ग और उपध्मानीय (=प और फ के पहले आने वाला आधे विसर्ग के समान संकेत =⌣प⌣फ) का स्थान दोनों ओष्ठ (=ओठ) है (अतएव इनको ओष्ठ्य कहते हैं)। ञ, म, ङ, ण और न का स्थान नासिका (=नाक) भी है (अतएव इनको नासिक्य भी कहते हैं)। एकार और ऐकार का स्थान कण्ठ और तालु (दोनों) है (अतएव इनको कण्ठ्य और तालव्य दोनों कहते हैं)। ओकार और औकार का स्थान कण्ठ और ओष्ठ (दोनों) है (अतएव इनको कण्ठ्य और ओष्ठ्य दोनों कहते हैं)। वकार का स्थान दन्त और ओष्ठ (दोनों) है अतएव इसको दन्त्य और ओष्ठ्य दोनों कहते हैं)। जिह्वामूलीय (क और ख के पहले आने वाला अर्धविसर्गसदृश संकेत = ⌣क⌣ख) का स्थान जिह्वा-मूल (जीभ का जड़ भाग) है (अतः इनको जिह्वा-मूलीय कहा जाता है)। अनुस्वार (ं) का स्थान नासिका है अतः इसको नासिक्य कहा जाता है।

टिप्पणी—**कु**—कवर्ग अर्थात्—क, ख, ग, घ, ङ। इसी तरह चु से चवर्ग, टु से टवर्ग, तु से तवर्ग, पु से पवर्ग समझना चाहिए। **नासिका च**—यहाँ च से ञ, म, ङ, ण, न के अपने-अपने पूर्वोक्त स्थान लिये जाते हैं। अतएव ञ का स्थान् तालु और नासिका दोनों है। इसी तरह म का स्थान ओष्ठ एवं नासिका, ङ का स्थान कण्ठ और नासिका, ण का स्थान मूर्धा और नासिका तथा न का स्थान दन्त एवं नासिका है। स्थान का तात्पर्य है तत्तत् वर्णों के उच्चारण स्थान से।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृ-

वाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं—(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त और (११) स्वरित। (इनमें से) विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न खर् (प्रत्याहारघटक वर्णों) के होते हैं। संवार, नाद और घोष प्रयत्न हश् (प्रत्याहारघटक वर्णों) के होते हैं। अल्पप्राण प्रयत्न वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ग, ज, ड, द, ब), पञ्चम (ङ, ञ, ण, न, म) और यण् (य, व, र, ल) का होता है। महाप्राण प्रयत्न वर्गों के द्वितीय (ख, छ, ठ, थ, फ), चतुर्थ (घ, झ, ढ, ध, भ) और शल् (श, ष, स, ह) का होता है। क से लेकर म तक (के व्यंजन वर्ण) स्पर्श कहलाते हैं। (इनमें कवर्ग आदि पाँच वर्ग हैं)। यण् (य, र, ल, व) अन्तःस्थ हैं (अर्थात् स्वर और व्यंजन के बीच के हैं)। शल् (श, ष, स, ह) ऊष्म हैं (अर्थात् इनका उच्चारण करने के लिए भीतर से जरा अधिक जोर से श्वास लानी पड़ती है) अच् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर कहलाते हैं। ⌣क⌣ख—यहाँ क और ख के पूर्व अर्धविसर्ग-सा उच्चारण जिह्वामूलीय कहलाता है। ⌣प⌣फ—यहाँ प और फ के पूर्व अर्धविसर्ग-सा उच्चारण उपध्मानीय कहलाता है। अं अः—यहाँ अ के वाद का उच्चारण (ं। : क्रमशः) अनुस्वार और विसर्ग कहलाता है।

टिप्पणी—विवार·········जिन वर्णों के उच्चारण में कंठ फैल जाता है वे विवार, जिनमें कंठ संकुचित होता है वे संवार, जिनके उच्चारण में श्वास चलती है वे श्वास, जिनका उच्चारण नाद से होता है वे नाद, जिनके उच्चारण में गूँज होती है वे घोष, जिनमें गूंज नहीं होती है वे अघोष, जिनके उच्चारण में कम श्वास की आवश्यकता होती है वे अल्पप्राण और जिनमें अधिक श्वास का उपयोग होता है वे महाप्राण होते हैं। **अनुस्वारविसर्गौ**—अनुस्वार किसी स्वर के ऊपर आता है। वह न् और म् के स्थान में होता है। यदि पंचवर्गीय अक्षरों के पूर्व अनुस्वार आये तो वह उस वर्ग के पंचम अक्षर का स्वरूप धारण कर लेता है। विसर्ग किसी स्वर के अन्त में आता है। वह रेफ के स्थान में होता है। अतएव अनुस्वार और विसर्ग की गणना पृथक् वर्णों में नहीं की जाती।

अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १। १। ६९।।

तविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव ।

प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(एक) आभ्यन्तर और (दूसरा) बाह्य। पहला (आभ्यन्तर प्रयत्न) पाँच प्रकार का होता है—(१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट, (३) ईषद्विवृत, (४) विवृत और (५) संवृत। उनमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शों (क से म पर्यन्त वर्णों) का होता है। ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न अन्तःस्थों (य, र, ल, व वर्णों) का होता है। ईषद्विवृत प्रयत्न ऊष्मा (श, ष, स, ह वर्णों) का होता है। विवृत प्रयत्न स्वरों (अच्प्रत्याहारघटक वर्णों) का होता है। संवृत प्रयत्न प्रयोगावस्था (सिद्ध रूप हो जाने की अवस्था) में ह्रस्व अकार का होता है, किन्तु प्रक्रियावस्था (साधनिकावस्था—प्रयोग साधने की अवस्था) में (उसका) विवृत प्रयत्न ही होता है।

टिप्पणी—यत्नः—वर्णोच्चारण में जो यत्न या आयास करना पड़ता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। हृदय में जो यत्न होता है, वह आभ्यन्तर है और मुख से वर्ण निकलते समय जो यत्न होता है, वह बाह्य है। आभ्यन्तर प्रयत्न का उपयोग सवर्ण-संज्ञा में होता है और बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता आन्तरतम्यपरीक्षा करने अर्थात् कई वर्णों में पारस्परिक सादृश्य ढूँढ़ने के समय पड़ती है। **स्पृष्ट**—वर्णोच्चारण के समय कंठ आदि अंगों में जिह्वाग्र आदि के पूर्ण स्पर्श होने पर स्पृष्टप्रयत्न, अल्प स्पर्श होने पर ईषत्स्पृष्टप्रयत्न, अवयवों के बहुत कम फैलने पर ईषद्विवृतप्रयत्न, पूर्ण रूप से फैलने पर विवृतप्रयत्न और संकुचित होने पर संवृतप्रयत्न होते हैं।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प ≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गदृशः उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं—(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त और (११) स्वरित। (इनमें से) विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न खर् (प्रत्याहारघटक वर्णों) के होते हैं। संवार, नाद और घोष प्रयत्न हश् (प्रत्याहारघटक वर्णों) के होते हैं। अल्पप्राण प्रयत्न वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ग, ज, ड, द, ब), पञ्चम (ङ, ञ, ण, न, म) और यण् (य, व, र, ल) का होता है। महाप्राण प्रयत्न वर्गों के द्वितीय (ख, छ, ठ, थ, फ), चतुर्थ (घ, झ, ढ, ध, भ) और शल् (श, ष, स, ह) का होता है। क से लेकर म तक (के व्यंजन वर्ण) स्पर्श कहलाते हैं। (इनमें कवर्ग आदि पाँच वर्ग हैं)। यण् (य, र, ल, व) अन्तःस्थ हैं (अर्थात् स्वर और व्यंजन के बीच के हैं)। शल् (श, ष, स, ह) ऊष्म हैं (अर्थात् इनका उच्चारण करने के लिए भीतर से जरा अधिक जोर से श्वास लानी पड़ती है) अच् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर कहलाते हैं। ⌣क⌣ख––यहाँ क और ख के पूर्व अर्धविसर्ग-सा उच्चारण जिह्वामूलीय कहलाता है। ⌣प⌣फ—यहाँ प और फ के पूर्व अर्धविसर्ग-सा उच्चारण उपध्मानीय कहलाता है। अं अः— यहाँ अ के बाद का उच्चारण (ं। : क्रमशः) अनुस्वार और विसर्ग कहलाता है।

टिप्पणी––विवार……जिन वर्णों के उच्चारण में कंठ फैल जाता है वे विवार, जिनमें कंठ संकुचित होता है वे संवार, जिनके उच्चारण में श्वास चलती है वे श्वास, जिनका उच्चारण नाद से होता है वे नाद, जिनके उच्चारण में गूँज होती है वे घोष, जिनमें गूँज नहीं होती है वे अघोष, जिनके उच्चारण में कम श्वास की आवश्यकता होती है वे अल्पप्राण और जिनमें अधिक श्वास का उपयोग होता है वे महाप्राण होते हैं। **अनुस्वारविसर्गौ**––अनुस्वार किसी स्वर के ऊपर आता है। वह न् और म् के स्थान में होता है। यदि पंचवर्गीय अक्षरों के पूर्व अनुस्वार आये तो वह उस वर्ग के पंचम अक्षर का स्वरूप धारण कर लेता है। विसर्ग किसी स्वर के अन्त में आता है। वह रेफ के स्थान में होता है। अतएव अनुस्वार और विसर्ग की गणना पृथक् वर्णों में नहीं की जाती।

अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १। १। ६९।।

प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कु चु टु तु पु एते उदितः । तदेवम्--अ इत्यष्टादशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः एवं लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनानुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा ।

अण् प्रथमान्त, उदित् प्रथमान्त, सवर्णस्य षष्ठ्यन्त, च अव्यय, अप्रत्ययः प्रथमान्त । जिसका विधान किया जाय, वह प्रत्यय है (और उससे भिन्न अप्रत्यय) । जिसका विधान न किया जा रहा हो, ऐसा अण् (प्रत्याहारघटकवर्ण) और उदित् (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) सवर्ण (अपने समान वर्ण) का बोधक होता है । यहीं (केवल इसी सूत्र में) अण् (प्रत्याहार) पर (लण् सूत्र के) णकार से होता है । कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग—ये उदित् कहलाते हैं । इसलिए सवर्ण-संज्ञा होने पर अ अठारह (भेदों) का बोधक होता है । उसी तरह इकार और उकार भी (१८-१८ भेदों के बोधक हैं) । ऋकार तीस का बोधक होता है । इसी तरह लृकार भी (तीस का बोधक होता है) । एच् (ए, ओ, ऐ, औ) बारह का बोधक है । अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से य, व, ल दो-दो प्रकार के होते हैं इसलिए अननुनासिक य, व, ल दो-दो (अर्थात् अनुनासिक एवम् अननु-नासिक दोनों) के बोधक होते हैं ।

टिप्पणी--अप्रत्ययः--यह पद इसलिए जोड़ा गया है, ताकि आदेश आदि में इस सूत्र से सवर्णसंज्ञा न हो । अप्रत्यय का अर्थ है—अविधीयमान । यह केवल अण् का विशेषण है, उदित् का नहीं है । अतएव सूत्र का स्पष्टार्थ होता है—अविधीयमान अण् सवर्ण का बोधक है और उदित् (चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान दोनों स्थितियों में) सवर्ण का बोधक है । इस सूत्र से सवर्णसंज्ञा करने का फल 'गाङ्गीभवति' इत्यादि उदाहरणों में मिलता है । सवर्णसंज्ञा के कारण 'अस्य च्वौ' सूत्र में ह्रस्व अकार से दीर्घ अकार का भी ग्रहण होता है, अतएव गङ्गा के अकार को उक्त सूत्र से ईत्व हुआ । **अत्रैवाण्**······--यहीं केवल 'लण्' सूत्रस्थ णकार से अण् प्रत्याहार का ग्रहण होता है, और जगह तो 'अइउण्' के णकार से ही अण् गृहीत है । अतएव भाष्यकार ने कहा है--'पूर्वेणैवाण्ग्रहाः सर्वे परेणैवेण्ग्रहा मताः । ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' **अ इति**···इसके १८ भेदों को 'स नवविधोऽपि' की टिप्पणी में देखिये । **एचो द्वादशानाम्**--एच् ह्रस्व नहीं होते । अतएव ह्रस्वोदात्तानुनासिक आदि छह भेदों के कम हो जाने

के कारण ये मात्र बारह प्रकार के होते हैं। **ऋकारस्त्रिंशतः**—ऋकार तीस इसलिए हो जाता है कि १८ प्रकार का यह स्वयं है और 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्' के बल से लृ के सवर्ण होने के कारण उसके १२ भेद इसमें मिल जाते हैं। लृकार के दीर्घाभाव के कारण १२ भेद ही होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। अनुनासिक...इनके दोनों प्रकार के स्वरूप ये हैं—यँ य्, वँ व्, लँ ल्।

परः सन्निकर्षः संहिता १। ४। १०९॥

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

हलोऽनन्तराः संयोगः १। १। ७॥

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

सुप्तिङन्तं पदम् १। १। १४॥

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्॥

॥ इति संज्ञाप्रकरणम् ॥

परः प्रथमान्त, सन्निकर्षः प्रथमान्त, संहिता प्रथमान्त। वर्णों के अत्यंत सामीप्य की संहितासंज्ञा होती है। हलः प्रथमान्त, अनन्तराः प्रथमान्त, संयोगः प्रथमान्त। स्वर वर्णों के व्यवधान से रहित व्यंजन वर्णों की संयोग संज्ञा होती है। सुप्तिङन्तम् प्रथमान्त, पदम् प्रथमान्त। सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा होती है।

टिप्पणी—**संहिता**—स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायशून्यः संहिता। **सुप्तिङन्तम्**—सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम्।

॥ संज्ञाप्रकरण समाप्त ॥

अथ अचसन्धिप्रकरणम्

इको यणचि ६। १। ७७॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १। १। ६६।।

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ।

स्थानेऽन्तरतमः १। १। ५०।।

प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुध्य् उपास्य इति जाते ।

अनचि च ८। ४। ४७।।

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो, न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ।

झलां जश् झशि ८। ४। ५३।।

स्पष्टम् । इति पूर्वधकारस्य दकारः ।

संयोगान्तस्य लोपः ८। ।२ २३।।

संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्यः लोपः स्यात् ।

अलोऽन्त्यस्य १। १। ५२ ।।

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते ।

[यणः प्रतिषेधो वाच्यः]

सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः ।

इकः षष्ठ्यन्त, यण् प्रथमान्त, अचि सप्तम्यन्त । पर में अच् के रहने पर (अर्थात् इक् से अव्यवहित आगे अच्प्रत्याहारघटकवर्ण के रहने पर) संहिता के विषय में इक् के स्थान में यण् हो (अर्थात् इक् प्रत्याहारघटकवर्ण के उच्चारणप्रसंग में यण्प्रत्याहारघटकवर्ण का उच्चारण करना चाहिए।) 'सुधी उपास्यः' इस अवस्था में । तस्मिन् सप्तम्यन्त, इति अव्यय, निर्दिष्टे सप्तम्यन्त, पूर्वस्य षष्ठ्यन्त । सप्तमी के निर्देश से (अर्थात् सप्तम्यन्तपदोच्चारणपूर्वक) किया जाने वाला कार्य अन्य वर्ण के व्यवधान से शून्य पूर्व (वर्ण) के स्थान में जानना (या करना) चाहिए । स्थाने सप्तम्यन्त, अन्तरतमः प्रथमान्त । प्राप्ति होने पर अत्यन्त सदृश आदेश हो । (अर्थात् अनेक आदेशों की प्राप्ति होने पर जो

आदेश स्थान, प्रयत्न आदि के द्वारा स्थान के सबसे अधिक सदृश हो, वही हो) 'सुध्य् उपास्य:' ऐसी स्थिति हो जाने पर । अनचि सप्तम्यन्त, च अव्यय । अच् (प्रत्याहारघटकवर्ण) से पर (आगे स्थित) यर् को विकल्प से द्वित्व हो, किन्तु पर में अच् के रहने पर न हो (अर्थात् यर् के आगे अच् के रहने पर द्वित्व न हो) इस सूत्र से धकार को द्वित्व हुआ । झलां षष्ठ्यन्त, जश् प्रथमान्त, झशि, सप्तम्यन्त । झल् के स्थान में जश् आदेश हो पर में झश् के रहने पर । इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान में दकार हो जाता है । संयोगान्तस्य षष्ठ्यन्त, लोपः प्रथमान्त । संयोगान्त जो पद (अर्थात् जिस पद के अन्त में संयुक्त अक्षर हो) उसके अन्त (अन्तिम अक्षर) का लोप हो । अलः षष्ठ्यन्त, अन्त्यस्य षष्ठ्यन्त । षष्ठयन्त पद का उच्चारण करके जो आदेश किया जाता है, वह अन्त्य अल् के स्थान में होता है । इससे यकार का लोप प्राप्त होने पर । यणः षष्ठ्यन्त, प्रतिषेधः प्रथमान्त, वाच्यः प्रथमान्त । यण् के लोप का प्रतिषेध कहना चाहिए (अर्थात् 'संयोगान्तस्य लोपः' इस सूत्र से यण्प्रत्याहारघटक वर्णों का लोप न हो) । सुद्ध्युपास्यः—'सुधी+उपास्यः' इस अवस्था में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' इन दोनों सूत्रों के बल से 'इको यणचि' सूत्र से ईकार के स्थान में य् हुआ । तब 'सुध्य् उपास्यः' इस अवस्था में 'अनचि च' सूत्र से ध् को द्वित्व होने पर 'सु ध् ध् य् उपास्यः' यह स्थिति हुई । फिर 'झलां जश् झशि' सूत्र से पूर्व धकार के स्थान में दकार हो जाने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से यलोप की प्राप्ति हुई किन्तु 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उसका निषेध हो गया; फलतः 'सुद्ध्युपास्यः' रूप सिद्ध हुआ । द्वित्व के अभाव-पक्ष में 'सुध्युपास्यः' रूप होता है । मद्ध्वरिः—'मधु+अरिः' इस अवस्था में 'इको यणचि' सूत्र से उकार के स्थान में व् हुआ; शेष बातें 'सुद्ध्युपास्यः' की तरह समझनी चाहिए । धात्त्रंशः—'धातृ+अंशः' इस अवस्था में 'इको यणचि' सूत्र से ऋकार के स्थान में यण् र् होता है । पश्चात् 'अनचि च' सूत्र से तकार को द्वित्व तथा 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' से संयोगान्तलोप का निषेध होने पर 'धात्त्रंशः' और द्वित्वाभाव-पक्ष में 'धात्रंशः' रूप सिद्ध होते हैं । लाकृतिः—'लृ+आकृतिः' इस अवस्था में 'इको यणचि' सूत्र से लृ के स्थान में ल् यण् होने पर लाकृतिः सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—इको यणचि—यदि ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ तथा लृ के बाद स्वर आए तो इ, उ, ऋ, लृ के स्थान में क्रमशः य्, व्, र् और ल् हो जाते हैं। **संहितायाम्**—तात्पर्य यह है कि जिन शब्दों में घनिष्ठ निकटता हो उनमें यण् सन्धि या यथासंभव कोई संधि अवश्य हो। जहाँ घनिष्ठ निकटता न हो वहाँ सन्धि करना या न करना बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर है—'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥' अर्थात् एकपद के भिन्न-भिन्न अवयवों में धातु और उपसर्ग के बीच तथा समास में सन्धि अवश्य होनी चाहिए (क्योंकि वहाँ संहिता ऐच्छिक नहीं हो सकती)। वाक्य के अलग-अलग शब्दों के बीच में सन्धि करना या न करना बोलने वाले की इच्छा पर है। जैसे, एकपद— पौ+अकः=पावकः। उपसर्ग और धातु —नि+अवसत्=न्यवसत्। समास—कृष्ण+अस्त्रम्=कृष्णास्त्रम्। वाक्य—रमेशः गच्छति वनम्, अथवा रमेशो गच्छति वनम्। **सुद्ध्युपास्यः**—सुधिया उपास्यः सुद्ध्युपास्यः। विद्वान् से आराधना करने योग्य। **मद्ध्वरिः**—मधोः अरिः मद्ध्वरिः। मधु नामक दैत्य के शत्रु विष्णु। **धात्त्रंशः**—धातुः अंशः धात्त्रंशः। ब्रह्मा का भाग। **लाकृतिः**—उल् इव आकृतिर्यस्य स लाकृतिः। देवमाता के समान आकृति वाला।

एचोऽयवायावः ६। १। ७८॥

एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १। ३। १०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

एचः षष्ठ्यन्त, अयवायावः प्रथमान्त। पर में अच् के रहने पर एच् के स्थान में क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हों (अर्थात् ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् और औ को आव् आदेश हों)। यथासंख्यम् प्रथमान्त, अनुदेशः प्रथमान्त, समानाम् षष्ठ्यन्त। बराबरों का विधान क्रमशः हो (अर्थात् स्थानी और आदेश की संख्या बराबर होने पर आदेश क्रमशः हो; जैसे प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय इस प्रकार हो)। हरये—'हरे+ए' इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से 'हरे' के एकार को अय् आदेश होने पर

'हरये' सिद्ध होता है। विष्णवे--'विष्णो+ए' इस अवस्था में 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से ओकार को अव् आदेश होने पर 'विष्णवे' सिद्ध होता है। नायक:—'नै+अक:' इस अवस्था में ऐ के स्थान में उक्त सूत्र से आय् आदेश होने पर 'नायक:' सिद्ध होता है। पावक:--'पौ+अक:' इस अवस्था में उक्त सूत्र से औ के स्थान में आव् आदेश होने पर 'पावक:' सिद्ध होता है।

टिप्पणी---हरये---हरि शब्द के चतुर्थी-विभक्ति-एकवचन का यह रूप है। **विष्णवे**—यह विष्णु शब्द के चतुर्थी-एकवचन का रूप है। **नायक:**=नेता। पावक:=अग्नि। 'कृशानु: पावकोऽनल:' इत्यमर:।

वान्तो यि प्रत्यये ६। १। ७९॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्त:। गव्यम्। नाव्यम्।

[अध्वपरिमाणे च]

गव्यूति:।

वान्त: प्रथमान्त, यि सप्तम्यन्त, प्रत्यये सप्तम्यन्त। पर में यकारादि प्रत्यय के रहने पर ओकार और औकार को अव् और आव् आदेश हों (अर्थात् जब ओ या औ के बाद यकारादि प्रत्यय (ऐसा प्रत्यय. जिनके आरंभ में य हो) आए तो ओ और औ के स्थान में क्रम से अव् और आव् हो जाते हैं। गव्यम्—'गो+यम्' इस अवस्था में 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से गो के ओकार को अव् आदेश होने पर गव्यम् रूप बनता है। नाव्यम्— नौ+यम्', इस अवस्था में औ को उक्त सूत्र से आव् आदेश होने पर नाव्यम् रूप बनता है। अध्वपरिमाणे सप्तम्यन्त, च अव्यय। मार्ग के परिमाण रूप अर्थ में भी (गो शब्द को वान्त आदेश हो यदि पर में यूति शब्द रहे)। गव्यूति:—'गो+यूति:' इस अवस्था में 'अध्वपरिमाणे च' से गो के ओकर को अव् आदेश होने पर गव्यूति: सिद्ध होता है।

टिप्पणी—**गव्यम्**—गोर्विकारो गव्यम=दही. दूध आदि। गो+यत् 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन। **नाव्यम्**+नावा तार्यं नाव्यम्=जल। नौ यत् 'नौवयोधर्म'--इत्यादिना। **गव्यूति:**=दो कोस। 'गव्यूति: स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमर:। 'ऊतियूति' इत्यादिना यूतिशब्दो निपातित:।

अदेङ् गुणः १। १। २।।

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

तपरस्तत्कालस्य १। १। ७०।।

तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

आद्गुणः ६। १। ८७।।

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

अत् प्रथमान्त, एङ् प्रथमान्त, गुणः प्रथमान्त। अकार और एङ् (ए, ओ) की गुणसंज्ञा हो। तपरः प्रथमान्त, तत्कालस्य षष्ठ्यन्त। तकार रहे पर में जिसके या जो तकार से पर में रहे, वह अपने तुल्यकाल का ही बोधक हो। आत् पञ्चम्यन्त, गुणः प्रथमान्त। अवर्ण से परे अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में एक गुण आदेश हो (अर्थात् यदि अ या आ के बाद (१) इ या ई आए तो दोनों के स्थान में ए हो जाता है; (२) उ या ऊ आए तो दोनों के स्थान में ओ हो जाता है; (३) ऋ या ॠ आए तो दोनों के स्थान में अर् हो जाता है; ऌ आए तो दोनों के स्थान में अल् हो जाता है। **उपेन्द्रः**— उप+इन्द्रः' इस अवस्था में प के अकार और इन्द्रः के इकार के स्थान में 'आद्गुणः' सूत्र से ए गुण हो जाने पर उपेन्द्रः रूप बनता है। 'गङ्गोदकम्—'गङ्गा+उदकम्' इस अवस्था में आ और उ की जगह उक्त सूत्र से ओ गुण होने पर गङ्गोदकम् बनता है।

टिप्पणी—तपरः—यहाँ 'तात् परः तपरः' पञ्चमीतत्पुरुष तथा 'तः परो यस्मात् स तपरः' बहुव्रीहि का भी अर्थ है। अतएव 'अदेङ् गुणः' सूत्र में अ से पर में तकार के होने के कारण ह्रस्व अ की और तकार से पर में एङ् के होने से ए, ओ मात्रा की गुणसंज्ञा होती है। **समकालस्यैव**—अपने सदृश उच्चारणकाल का ही। फलतः 'अदेङ् गुणः' में अ अकार का ही और एङ् ए, ओ का ही बोधक होता है। **उपेन्द्रः**=विष्णुः। **गङ्गोदकम्**—गङ्गायाः उदकम् गङ्गोदकम् =गङ्गाजलम्।

उपदेशेऽजनुनासिक इत् १। ३। २।।

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा ।

उरण् रपरः १। १।५१।।

'ऋ' इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम् । तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः ।

उपदेशे सप्तम्यन्त, अच् प्रथमान्त, अनुनासिकः प्रथमान्त, इत् प्रथमान्त । उपदेश अवस्था में अनुनासिकविशिष्ट जो अच् उसकी इत्संज्ञा हो । पाणिनि के कहे हुए वर्ण प्रतिज्ञा (सूत्र-निर्देश) के अनुसार अनुनासिक होते हैं । 'लण्' सूत्र-स्थित अवर्ण के साथ उच्चारण किया जाने वाला रेफ र और ल दोनों का बोधक होता है । उः षष्ठ्यन्त, अण् प्रथमान्त, रपरः प्रथमान्त । ऋकार तीस प्रकार का होता है, यह पहले बताया जा चुका है । उसके स्थान में जो अण् होता है, वह रपर लेकर ही प्रवृत्त होता है (अर्थात् उसके आगे रेफ हो जाता है) । कृष्णर्द्धिः—'कृष्ण+ऋद्धिः' इस अवस्था में 'आद्‌गुणः' सूत्र से अकार और ऋकार के स्थान में अकार गुण करने पर 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर हो जाता है, इस प्रकार कृष्णर्द्धिः रूप बनता है । तवल्कारः—'तव+ऌकारः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से गुण तथा 'उरण् रपरः' से लपर होने पर तवल्कारः सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—उपदेशे......—इस सूत्र से 'सु' के अनुनासिक उकार की इत्संज्ञा होती है । उसके अनुनासिक होने का निश्चय 'प्रत्ययः परश्च' इस प्रथमैकवचनान्त पद-निर्देश से किया जाता है । **लण्सूत्रस्थ**......—'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः' यह पहले कहा जा चुका है । अतएव र प्रत्याहार 'हयवरट्' के रेफ और 'लण्' के अ से सिद्ध होता है; फलतः यह रकार और लकार दोनों का बोधक है । इसलिए 'उरण् रपरः' सूत्र में रपर का भी ग्रहण होता है । **रपरः**—रः परो यस्मात् स रपरः । **कृष्णर्द्धिः**—कृष्ण की समृद्धि या ऐश्वर्य । **तवल्कारः**—तुम्हारा ऌकार (अक्षर या देवमाता) ।

लोपः शाकल्यस्य ८। ३। १९।।

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।

पूर्वत्रासिद्धम् ८। २। २।।

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् । हर इह । हरयिह । विष्ण इह । विष्णविह ।

लोपः प्रथमान्त, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्त । पर में अश् के रहने पर अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार और वकार का विकल्प से लोप हो (अर्थात् पदान्त य् या व् के ठीक पूर्व यदि अ या आ रहे और पश्चात् कोई 'अश्' प्रत्याहार का वर्ण आए तो य् और व् का विकल्प से लोप होता है) । पूर्वत्र अव्यय, असिद्धम् प्रथमान्त । सपादसप्ताध्यायी के (सूत्र या शास्त्र के) प्रति त्रिपादी (का सूत्र या शास्त्र) असिद्ध हो और त्रिपादी में भी पूर्व (सूत्र) के प्रति पर (सूत्र) असिद्ध हो । हर इह—'हरे+इह' इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से एकार के स्थान में अय् आदेश होने पर 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से यकार का लोप हो जाता है । तब 'हर इह' इस दशा में 'आद्गुणः' सूत्र से गुण की प्राप्ति होती है, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से यलोप की असिद्धि हो जाने से गुण नहीं हो पाता है । इस प्रकार 'हर इह' रूप बनता है और जिस पक्ष में यलोप नहीं होता है उस पक्ष में 'हरयिह' ऐसा ही रहता है । विष्ण इह—'विष्णो+इह' इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से ओकार के स्थान में अव् आदेश तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से वकार का लोप हो जाने पर 'विष्ण इह' रूप की सिद्धि होती है । यहाँ भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' से वलोप के असिद्ध हो जाने के कारण गुण नहीं हो सका । लोपाभाव-पक्ष में 'विष्णविह' रूप होता है ।

टिप्पणी—सपादसप्ताध्यायीम्—अष्टाध्यायी सूत्र-पाठ के प्रथमाध्याय से लेकर अष्टमाध्याय के प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी कहलाता है और अष्टमाध्याय के अवशिष्ट द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद त्रिपादी कहलाता है । सप्तानाम् अध्यायानां समाहारः सप्ताध्यायी, पादेन सहिता सप्ताध्यायी सपादसप्ताध्यायी । त्रयाणां पादानां समाहारः त्रिपादी । हर इह—विष्ण इह—हे हरे ! हे विष्णो ! यहाँ (विराजिये) ।

वृद्धिरादैच् १। १। १।।

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ।

वृद्धिरेचि ६। १। ८८।

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गंगौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

वृद्धिः प्रथमान्त, आत् प्रथमान्त, ऐच् प्रथमान्त । आत् (आ) और ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धिसंज्ञा हो । वृद्धिः प्रथमान्त, एचि सप्तम्यन्त । अवर्ण से पर में एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के रहने पर (पूर्व और पर के स्थान में) वृद्धिरूप एक आदेश हो (अर्थात् जब अ अथवा आ के बाद ए या ऐ आए तो दोनों के स्थान में ऐ हो जाता है और जब ओ या औ आए तो दोनों के स्थान में औ हो जाता है) । यह सूत्र गुण का अपवादक है । कृष्णैकत्वम्—'कृष्ण+एकत्वम्' इस अवस्था में 'वृद्धिरेचि' सूत्र से कृष्ण के अकार और एकत्वम् के एकार के स्थान में ऐकार वृद्धि होने पर 'कृष्णैकत्वम्' रूप बनता है। गङ्गौघः—'गङ्गा+ओघः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से औ वृद्धि होने पर 'गङ्गौघः' सिद्ध होता है । देवैश्वर्यम्—'देव+ऐश्वर्यम्' इस अवस्था में उक्त सूत्र से ऐ वृद्धि होने पर 'देवैश्वर्यम्' सिद्ध होता है । कृष्णौत्कण्ठ्यम्—कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्' इस अवस्था में उक्त सूत्र से औ वृद्धि होने पर 'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' बनता है ।

टिप्पणी—गुणापवादः—जहाँ 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त होगी वहाँ 'आद्गुणः' से गुण भी प्राप्त होगा । अतएव 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इस न्याय से वृद्धि-सूत्र गुण-सूत्र का बाधक है । **कृष्णैकत्वम्**—कृष्ण की एकरूपता । **गंगौघः**—गङ्गा के जल का वेग । **देवैश्वर्यम्**—देवताओं का ऐश्वर्य । **कृष्णौत्कण्ठ्यम्**—कृष्ण की या कृष्ण के प्रति उत्कण्ठा ।

एत्येधत्यूठ्सु ६। १। ८९।।

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् ।

एति-एधति-ऊठ्सु सप्तम्यन्त । अवर्ण से पर में एजादि इण् धातु (एति), एजादि एध् धातु (एधते) और ऊठ् के रहने पर (पूर्व और पर के स्थान में) वृद्धि रूप एक आदेश हो । उपैति—'उप+एति' इस अवस्था में 'एत्येधत्यूठ्सु'

सूत्र से उप के अकार और एति के एकार के स्थान में ऐकार वृद्धि होने पर 'उपैति' बनता है । उपैधते--'उप+एधते' इस अवस्था में उक्त सूत्र से ऐ वृद्धि होने पर 'उपैधते' बनता है । प्रष्ठौहः--प्रष्ठ+ऊहः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से औ वृद्धि होने पर 'प्रष्ठौहः' बनता है । प्रश्न होता है कि 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र के अर्थ में एजादि विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर है यदि एजादि नहीं कहेंगे तो 'उपेतः' (उप+इतः) और 'मा भवान् प्रेदिधत्' (प्र+ईदिधत्) आदि इजादि स्थलों में भी वृद्धि हो जायगी ।

टिप्पणी--एत्येधत्यूठ्सु--यह सूत्र गुण और पररूप का बाधक है । **उपैति**--समीप जाता है । **उपैधते**--निकट में बढ़ता है । **प्रष्ठौहः**--प्रष्ठवाट्=जवान बैल, जिसे हल जोतने का अभ्यास कराया जाता हो । प्रष्ठवाट् शब्द के षष्ठी-एकवचन में प्रष्ठौहः रूप होता है । **उपेतः**--प्राप्त, समीप आया हुआ । **मा भवान् प्रेदिधत्**--आप वृद्धि न करें ।

[अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्]

अक्षौहिणी सेना ।

[प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु]

प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः ।

[ऋते च तृतीयासमासे]

सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः ।

(प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानामृणे)

प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् इत्यादि ।

अक्षात् पञ्चम्यन्त, ऊहिन्याम् सप्तम्यन्त, उपसंख्यानम् प्रथमान्त । अक्षशब्दावयव अवर्ण से पर में ऊहिनीशब्दावयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश हो । अक्षौहिणी--'अक्ष+ऊहिनी' इस अवस्था में 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से अक्ष के अन्तिम अकार और ऊहिनी के उकार के स्थान में औ वृद्धि होने पर 'अक्षौहिणी' रूप बनता है। प्रात् पञ्चम्यन्त, ऊहोढोढ्येषैष्येषु सप्तम्यन्त । प्रशब्दावयव अवर्ण से पर में ऊह, ऊढ, ऊढि, एष

और एष्य शब्दावयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश हो। प्रौहः——'प्र+ऊहः' इस अवस्था में 'प्रादूहोढोढयेषैष्येषु' इस वार्तिक से प्र के अकार और ऊहः के ऊकार के स्थान में औ वृद्धि होने पर 'प्रौहः' रूप बनता है। 'प्रौढः'——'प्र+ऊढः' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से वृद्धि होने पर 'प्रौढः' सिद्ध होता है। 'प्रौढिः'——'प्र+ऊढिः' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से वृद्धि होने पर 'प्रौढिः' बनता है। प्रैषः——'प्र+एषः' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से ऐ वृद्धि होने पर 'प्रैषः' सिद्ध होता है। प्रैष्यः——'प्र+एष्यः' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से वृद्धि होने पर 'प्रैष्यः' की सिद्धि होती है। ऋते सप्तम्यन्त, च अव्यय, तृतीयासमासे सप्तम्यन्त। अवर्ण से पर में ऋतशब्दावयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश हो तृतीयासमास में। सुखार्तः——'सुख+ऋतः' इस अवस्था में 'ऋते च तृतीया समासे' इस वार्तिक से सुख के अकार और ऋतः के ऋकार के स्थान में आ वृद्धि होने के बाद 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'सुखार्तः' की सिद्धि होती है। इस वार्तिक में 'तृतीया' का उपादान क्यों किया——इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो 'परमर्तः' (परम+ऋतः) में, जहाँ तृतीयासमास नहीं है बल्कि कर्मधारयसमास है, इस वार्तिक से वृद्धि हो जायगी। प्रवत्सतर········दशानाम् षष्ठ्यन्त, ऋणे सप्तम्यन्त। प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसनशब्दावयव, ऋणशब्दावयव और दशशब्दावयव अ वर्ण से पर में ऋणशब्दावयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश हो। प्रार्णम्——'प्र+ऋणम्' इस अवस्था में 'प्रवत्सतर——' इत्यादि वार्तिक से प्र के अकार और ऋणम् के ऋकार के स्थान में आ वृद्धि और 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'प्रार्णम्' रूप बनता है। वत्सतरार्णम्——'वत्सतर+ऋणम्' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से वृद्धि और रपर होने पर 'वत्सतरार्णम्' की सिद्धि होती है। आदि पद से 'कम्बलार्णम्, वसनार्णम्, ऋणार्णम् 'दशार्णो देशः' इत्यादि उदाहरण समझने चाहिए।

टिप्पणी——अक्षात्························यह वार्तिक गुण का बाधक है। **अक्षौहिणी**——ऊहः अस्ति अस्याः इति ऊहिनी अक्षाणाम् ऊहिनी अक्षौहिणी=वह सेना, जिसमें २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल

होते हैं। यह आँकड़ा महाभारत के अनुसार दिया गया है। प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु—यह वार्तिक गुण और पररूप का बाधक है। प्रौहः—महान् तार्किक। प्रौढः—वृद्धि को प्राप्त। प्रौढिः—प्रौढता। प्रैषः—भेजना। प्रैष्यः—दास। ऋते च तृतीयासमासे—यह वार्तिक गुण का बाधक है। सुखार्तः—सुख से गया हुआ। परमर्तः—परम मुक्त। प्रवत्सतर······—यह वार्तिक गुण का बाधक है। ऋणार्णम्—बहुत बड़ा ऋण। वत्सतरार्णम्—बछड़े के निमित्त लिया जाने वाला ऋण।

उपसर्गाः क्रियायोगे १। ४। ५९॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः। प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ नि अधि अपि अति सु उद् अभि प्रति परि उप प्रादयः।

भूवादयो धातवः १। ३। १॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

उपसर्गादृति धातौ ६। १। ९१॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

उपसर्गाः प्रथमान्त, क्रियायोगे सप्तम्यन्त। क्रिया के योग में प्र आदि की उपसर्गसंज्ञा होती है। प्र, परा आदि (२२ उपसर्ग) प्रादि कहलाते हैं। भूवादयः प्रथमान्त, धातवः प्रथमान्त। क्रियावाची भू आदि की धातुसंज्ञा होती है। उपसर्गात् पञ्चम्यन्त, ऋति सप्तम्यन्त, धातौ सप्तम्यन्त। अवर्णान्त उपसर्ग से आगे ऋकारादि धात्ववयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश हो। प्रार्च्छति—'प्र+ऋच्छति' इस अवस्था में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' सूत्र से 'प्र' को उपसर्गसंज्ञा तथा 'भूवादयो धातवः' सूत्र से 'ऋच्छति' को धातुसंज्ञा करने के बाद 'उपसर्गादृति धातौ' सूत्र से प्र के अकार और ऋच्छति के ऋकार के स्थान में आ वृद्धि तथा 'उरण् रपरः' से रपर भी होता है; इस प्रकार प्रार्च्छति रूप बनता है।

टिप्पणी—भूवादय—भूश्च वाश्च भूवौ, आदिश्च आदिश्च आदी भूवादी येषां ते भूवादयः। यहाँ एक आदि शब्द व्यवस्थावाची है और दूसरा

प्रकारवाची । प्रकार का अर्थ है—भेद का सादृश्य । इसलिए भूप्रभृति और वासदृश—यह अर्थ लब्ध होता है । यहाँ सादृश्य क्रियावाचकत्व है, अतएव फलितार्थ होता है क्रियावाची भू आदि । प्राच्छंति—बहुत चलता है ।

एङि पररूपम् ६। १। ६४।।

आदुपसर्गादेङादौ धातौ पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति ।

अचोऽन्त्यादि टि १। १। ६४।।

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् ।

[शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्]

तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्त्तण्डः ।

एङि सप्तम्यन्त, पररूपम् प्रथमान्त । अवर्णान्त उपसर्ग से आगे एङादि धात्ववयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो (अर्थात् यदि अकारान्त उपसर्ग के बाद एकारादि या ओकारादि धातु आए तो उपसर्ग के अन्त और धातु के आदि के स्थान में ए या ओ हो जाता है) । प्रेजते —'प्र+एजते' इस अवस्था में 'प्राच्छंति' की तरह उपसर्गसंज्ञा और धातुसंज्ञा करने के बाद 'एङि पररूपम्' सूत्र से प्र के अकार और एजते के एकार के स्थान में ए पररूप होने पर 'प्रेजते' की सिद्धि होती है । उपोषति—'उप+ओषति' इस अवस्था में पूर्ववत् उपसर्गसंज्ञा और धातुसंज्ञा के बाद 'एङि पररूपम्' से अकार और ओकार के स्थान में ओ पररूप होने पर 'उपोषति' सिद्ध होता है । अचः षष्ठ्यन्त, अन्त्यादि प्रथमान्त, टि प्रथमान्त । अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् वह है आदि में जिस (समूह) के उसकी टि संज्ञा हो । शकन्ध्वादिषु सप्तम्यन्त, पररूपम् प्रथमान्त, वाच्यम् प्रथमान्त । शकन्ध्वादिगण में पठित शब्दों को पररूप एकादेश हो और पररूप टि के स्थान में हो (अर्थात् शकन्ध्वादिगणपठित शब्दों के विषय में पूर्वपद टि के पर में उत्तरपदावयव अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो) शकन्धुः—'शक+अन्धुः' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ की प्राप्ति हुई । उसको बाधकर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से शक के ककारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में पररूप हो

जाता है। क्योंकि पररूप टिसंज्ञक वर्ण के स्थान में होता है और यहाँ 'अचोऽन्त्यादि टि' से टिसंज्ञा ककारोत्तरवर्ती अकार की होती है। इस प्रकार 'शकन्धुः' सिद्ध होता है। कर्कन्धुः—'कर्क+अन्धुः' इस अवस्था में दीर्घ की प्राप्ति को बाधकर उक्त वार्तिक से कर्क के अन्तिम अकार के स्थान में पररूप हो जाने पर 'कर्कन्धुः' की सिद्धि होती है। मनीषा—'मनस्+ईषा' इस अवस्था में उक्त वार्तिक से मनस् के अस् के स्थान में पररूप होने पर मनीषा रूप बनता है। यह (शकन्ध्वादिगण) आकृतिगण है (अर्थात् ये ही शब्द इस गण में इस प्रकार से निर्दिष्ट हैं, ऐसा नियम नहीं है; किन्तु जिस शब्द में पररूप देखा जाता है और उसका विधायक सूत्र नहीं मिलता है, वह शब्द भी शकन्ध्वादिगणीय है। इस प्रकार आकृतिगण के सम्बन्ध में अन्यत्र भी ऊह कर लेना चाहिए।) मार्त्तण्डः—'मृत+अण्डः' इस अवस्था में 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से पररूप होने के बाद अण् प्रत्यय तथा आदिवृद्धि होने पर 'मार्त्तण्डः' रूप सिद्ध होता है।

टिप्पणी—पररूपम्—पूर्व वर्ण का पर वर्ण के समान रूप हो अर्थात् पूर्व वर्ण का अभाव हो जाय। **प्रेजते**—अतिशय प्रकाशित होता है। **उपोषति**—समीप जाता है। **शकन्धुः**—शक नामक देश का कुँआ। यहाँ पूर्वपद 'शक' का अन्तिम अकार किसी के आदि में नहीं है, फिर टि संज्ञा कैसे हुई—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि व्यपदेशिवद्भाव से वह स्वयं अपने आदि में है। **कर्कन्धुः**—बेर। 'कर्कन्धुः बदरीफलम्' इत्यमरः। **मनीषा**—बुद्धि। यहाँ पूर्वपद 'मनस्' में अच् समुदाय है मकारोत्तर अकार तथा नकारोत्तर अकार। उन दोनों के मध्य में अन्त्य अच् है नकारोत्तर अकार। वह जिस समुदाय के आदि में है वह समुदाय 'अस्' है। अतएव उसी अस् की टि संज्ञा होती है। **आकृतिगणः**—आकृत्या=स्वरूपेण गण्यते इति आकृतिगणः। **मार्त्तण्डः**—सूर्य। 'मृताण्डादागतः' इस विग्रह में 'तत आगतः' इस सूत्र से अण् प्रत्यय।

ओमाङोश्च ६। १। ९५॥

ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायोंनमः। शिव एहि।

अन्तादिवच्च ६। १। ८५॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात् । शिवेहि ।

अकः सवर्णे दीर्घः ६। १। १०१॥

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । होतॄकारः ।

ओमाङोः सप्तम्यन्त, च अव्यय । अवर्ण से पर में ओम् या आङ् रहे तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो । शिवायोंनमः—'शिवाय+ओंनमः' इस अवस्था में 'ओमाङोश्च' सूत्र से शिवाय के अकार को पररूप हो गया अर्थात् वह अदृश्य हो गया; फलतः 'शिवायोंनमः' सिद्ध हुआ । शिव+एहि इस अवस्था में । अन्तादिवत् अव्यय, च अव्यय । जो यह एकादेश है, वह पूर्वपद के अन्त की तरह और पर पद के आदि की तरह हो । शिवेहि—'शिव+आ +इहि' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से शिव के अकार और तदुत्तर-वर्ती आ के स्थान में दीर्घ की प्राप्ति होती है, किन्तु 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इस परिभाषा के बल से दीर्घ की असिद्धि हो जाती है । तब पहले 'आ +इहि' इसमें 'आद्गुणः से गुण होने पर 'शिव+एहि' यह अवस्था प्राप्त होती है । इसमें 'अन्तादिवच्च' से अन्तवद्भाव करके 'ओमाङोश्च' से पररूप करने पर 'शिवेहि' रूप बनता है । अकः षष्ठ्यन्त, सवर्णे सप्तम्यन्त, दीर्घः प्रथमान्त । अक् से पर में सवर्ण अच् के रहने पर पूर्व और पर के स्थान में (सवर्ण) दीर्घ एकादेश हो (अर्थात् यदि साधारण ह्रस्व अथवा दीर्घ अ, इ, उ, ऊ, ऋ, स्वर के अनन्तर सवर्ण ह्रस्व अथवा दीर्घ स्वर आए तो दोनों के स्थान में 'सवर्ण-दीर्घ स्वर होता है) । दैत्यारिः:—'दैत्य+अरिः' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से दैत्य के अकार और अरिः के अकार की जगह आ दीर्घ होने पर 'दैत्यारिः' रूप बनता है । श्रीशः—'श्री+ईशः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से श्री के ईकार और ईशः के ईकार के स्थान में ई दीर्घ होने पर 'श्रीशः' सिद्ध होता है। विष्णूदयः—'विष्णु+उदयः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से दोनों उ की जगह ऊ दीर्घ होने से उसकी सिद्धि होती है । 'होतॄकारः—होतृ+ऋकारः' इस अवस्था में उक्त सूत्र से दोनों ऋ के स्थान में ॠ दीर्घ होने पर यह रूप बनता है ।

टिप्पणी—अन्तादिवच्च—इसका स्पष्टार्थ यह है—एकादेश के पूर्व स्थानी

सहित पूर्व-समुदाय में और पर स्थानी सहित पर-समुदाय में जो धर्म विद्यमान रहता है, वह एकादेशविशिष्ट पूर्व तथा पर में आ जाता है। **शिवायोंनमः**—शंकर को ओंकारोच्चारणपूर्वक नमस्कार है। **शिवेहि**—हे शिव ! यहाँ आओ। **दैत्यारि**—दैत्यों के शत्रु। **श्रीशः**—लक्ष्मी-पति । **विष्णूदयः**—विष्णु का उदय। **होतृकारः**—होता या होतृ शब्द का ऋकार।

एङः पदान्तादति ६। १। १०६॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

सर्वत्र विभाषा गोः ६। १। १२२॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात् पदान्ते। गो अग्रम्। गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम् ? चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम् ? गोः।

एङः पञ्चम्यन्त, पदान्तात् पञ्चम्यन्त, अति सप्तम्यन्त। पदान्त एङ् से पर में अकार रहे तो पूर्वरूप एकादेश हो (अर्थात् पदान्त एकार या ओकार के बाद यदि 'अ' आए तो दोनों के स्थान में क्रमशः एकार तथा ओकार (पूर्वरूप) हो जाते हैं, और ऽ चिह्न अ की पूर्व उपस्थिति की सूचनामात्र देने को रख दिया जाता है)। हरेऽव—'हरे+अव' इस अवस्था में 'एङः पदान्तादति' सूत्र से हरे के एकार तथा अव के आद्य अकार के स्थान में ए पूर्वरूप होने पर 'हरेऽव' की सिद्धि होती है। विष्णोऽव—'विष्णो+अव' इस अवस्था में उक्त सूत्र से विष्णो के ओकार और अव के अकार के स्थान में ओ पूर्वरूप होने पर 'विष्णोऽव' रूप बनता है। सर्वत्र अव्यय विभाषा प्रथमान्त, गोः षष्ठ्यन्त। लोक और वेद में (सभी जगह) एङन्त गो शब्द को पर में अकार के रहने पर विकल्प से प्रकृति-भाव हो पदान्त के विषय में (अर्थात् गोशब्द के आगे अ आए तो विकल्प से प्रकृतिभाव हो)। गो अग्रम्—'गो+अग्रम्'—इस अवस्था में 'एङः पदान्तादति' सूत्र से प्राप्त पूर्वरूप को बाधकर 'सर्वत्र विभाषा गोः' से प्रकृतिभाव हो जाने पर 'गो अग्रम्' रूप रहता है। गोऽग्रम्—जब प्रकृतिभाव नहीं होता है, उस पक्ष से 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होने पर 'गोऽग्रम्' रूप बनता है। 'सर्वत्र विभाषा गोः' सूत्र की वृत्ति में एङन्त का ग्रहण क्यों किया—इस प्रश्न का उत्तर

यह है कि ऐसा न करने से 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग में यण् को बाधकर 'सर्वत्र विभाषा गोः' से प्रकृतिभाव हो जाने पर 'चित्रगु अग्रम्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा। एङन्त के ग्रहण करने पर तो यहाँ इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं हो सकती; क्योंकि 'चित्रगु' में गु उकारान्त है एङन्त नहीं है। उक्त सूत्र की वृत्ति में 'पदान्ते' तो इसलिए कहा गया है कि 'गोः' में उससे प्रकृतिभाव होकर 'गो अस्' ऐसा असाधु प्रयोग न हो जाय। 'पदान्ते' के रखने पर तो यहाँ 'स्' पदान्त है 'ओ' पदान्त नहीं है, इसलिए नहीं होता है।

टिप्पणी—हरेऽव, विष्णोऽव—हे भगवन्! रक्षा करो। **प्रकृतिभावः**—इसका तात्पर्य है कि सन्धि होने पर भी पूर्ववत् स्थिति रहे। **चित्रग्वग्रम्**—जिसकी चित्र-विचित्र गायें हैं, उसका अग्रभाग। यहाँ 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से 'गु' शब्द में गोत्व के आ जाने पर भी एङन्तत्व का अभाव ही है।

अनेकाल् शित्सर्वस्य १। १। ५५॥

अनेकाल् य आदेशः शिदादेशश्च स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने स्यात्। इति प्राप्ते।

ङिच्च १। १। ५३॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

अवङ् स्फोटायनस्य ६। १। १२३॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि। गवाग्रम्। गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

इन्द्रे च ६। १। १२४॥

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

अनेकाल् प्रथमान्त, शित् प्रथमान्त, सर्वस्य षष्ठ्यन्त। अनेकाल् आदेश और शित् आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में हो। इसकी प्राप्ति होने पर। ङित् प्रथमान्त, च अव्यय। ङित् आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्त्य के स्थान में ही हो। अवङ् प्रथमान्त, स्फोटायनस्य षष्ठ्यन्त। पर में अच् के रहने

पर एङन्त गो शब्द को अवङ् आदेश हो पदान्त में (अर्थात् यदि गो के आगे कोई स्वर हो तो गो के ओ के लिए अव का आदेश विकल्प से हो जाता है)। गवाग्रम्—'गो+अग्रम्' इस अवस्था में 'एचोऽयवायाव:' से अव् आदेश की प्राप्ति होती है। उसको बाधकर 'सर्वत्र विभाषा गो:' से प्रकृतिभाव प्राप्त होता है। उसको भी परत्वात् बाधकर 'अवङ् स्फोटायनस्य' से गो को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। वह अवङ् आदेश कहाँ होगा—यह प्रश्न उपस्थित होने पर 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थान में प्राप्त होता है; किन्तु 'ङिच्च' सूत्र से गोशब्द के गकारोत्तरवर्ती ओकार के स्थान में ही अवङ् आदेश होने पर ङकार की इत्संज्ञा—लोप हो जाता है। तब 'गव+अग्रम्' इस अवस्था में 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से सवर्णदीर्घ होने पर 'गवाग्रम्' रूप बनता है। अवङ् आदेश के अभाव-पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा गो:' से प्रकृतिभाव होने पर 'गो अग्रम्' और प्रकृति के अभाव-पक्ष में 'एङ: पदान्तादति' से पूर्वरूप होने पर 'गोऽग्रम्' भी बनते हैं। यदि कहें कि 'अवङ्स्फोटायनस्य' के अर्थ में 'पदान्ते' का ग्रहण क्यों किया तो इसका उत्तर है कि इसके अभाव में 'गवि' में अव् आदेश को बाधकर 'अवङ् स्फोटायनस्य' से अवङ् आदेश हो जायगा। जब 'पदान्ते' कहेंगे तब नहीं होगा। क्योंकि 'गवि' में 'इ' पदान्त है 'ओ' पदान्त नहीं है। इन्द्रे सप्तम्यन्त, च अव्यय। पर में इन्द्र शब्द के रहने पर गो शब्द को अवङ् आदेश हो (अर्थात् यदि इन्द्र शब्द आगे रहे तो गो के ओ को अवङ् आदेश नित्य होता है)। गवेन्द्र:—'गो+इन्द्र:' इस अवस्था में 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से अव् आदेश की प्राप्ति होती है। उसको बाधकर 'इन्द्रे च' से अवङ् हो जाता है। ङकार की इत्संज्ञा—लोप होने के बाद 'आद्गुण:' से अ-इ के स्थान में ए गुण होने पर 'गवेन्द्र:' सिद्ध होता है।

टिप्पणी—अनेकाल्—वह जिसमें अनेक अल् हो। शित्—वह जिसमें शकार की इत्संज्ञा हुई हो। ङित्—वह जिसमें ङकार की इत्संज्ञा हुई हो। **गवाग्रम्**—गो का अग्रभाग। **गवेन्द्र:**—साँड़, बैल।

दूराद्धूते च ८। २। ८४॥

दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टे: प्लुतो वा स्यात्।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६। १। १२५।।

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति ।

ईदूदेद्द्विचनं प्रगृह्यम् १। १। ११।।

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ।

अदसो मात् १। १। १२।।

अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् ? अमुकेऽत्र।

दूरात् पञ्चम्यन्त, हूते सप्तम्यन्त, च अव्यय । दूर से सम्बोधन करने पर वाक्य के टि की प्लुत संज्ञा हो विकल्प से । प्लुतप्रगृह्याः प्रथमान्त, अचि सप्तम्यन्त, नित्यम् प्रथमान्त । पर में अच् के रहने पर प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्य-संज्ञक (वर्ण) को प्रकृतिभाव हो । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति—यहाँ 'कृष्ण+अत्र' इस अवस्था में सवर्णदीर्घ की प्राप्ति को बाधकर 'दूराद्धूते च' सूत्र से टिसंज्ञक णकारोत्तरवर्ती अकार की प्लुतसंज्ञा हो जाने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है, अतएव दीर्घ न होकर पूर्ववत् स्थिति रह जाती है । ईदूदेद्द्विवचनं प्रथमान्त, प्रगृह्यम् प्रथमान्त । ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा हो । (अर्थात् जब संज्ञा अथवा सर्वनाम अथवा क्रियावाचक शब्द के द्विवचन-रूप के अंत में ई, ऊ और ए रहता है तो उस ई, ऊ और ए को प्रगृह्य कहते हैं) । हरी एतौ—'हरी+एतौ' इस अवस्था में 'इको यणचि' से प्राप्त यण् को बाधकर 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जाता है, अतएव यथावत् स्थिति रह जाती है । विष्णू इमौ—यहाँ भी 'विष्णू+इमौ' इस अवस्था में प्राप्त यण् को बाधकर प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने पर यथापूर्व स्थिति रह जाती है । गङ्गे अमू—'गङ्गे+अमू' इस अवस्था में 'एचोऽयवायावः' से प्राप्ति अय् आदेश को बाधकर प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने पर ज्यों की त्यों स्थिति रह जाती है । अदसः षष्ठ्यन्त 'मात्' पञ्चम्यन्त । अदस् शब्द सम्बन्धी मकार से पर में विद्यमान ईत् औरऊत् की प्रगृह्यसंज्ञा हो (अर्थात् जब अदस् शब्द के मकार के

बाद ई या ऊ आते हैं तो वे प्रगृह्य होते हैं) । अमी ईशाः--'अमी+ईशाः' इस अवस्था में सवर्णदीर्घ को बाधकर 'अदसो मात्' से अमी के ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने पर 'अमी ईशाः' रूप सिद्ध होता है । रामकृष्णावमू आसाते—यहाँ 'अमू+आसाते' इस अवस्था में प्राप्त यण् को बाधकर उक्त सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा एवं प्रकृतिभाव होने पर ज्यों का त्यों रूप रह जाता है । आशंका की जाती है कि 'अदसो मात्' में 'मात्' क्यों कहा। उत्तर है कि 'मात्' नहीं कहेंगे तो अदस् शब्द से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' सूत्र से अकच् तथा अनुबन्ध-लोप होने के बाद 'अदकस्' शब्द से जस् विभक्ति में अत्व, पररूप एवं जस् के स्थान में श्यादेश, गुण, उत्व और मत्व करने के बाद 'अमुके' रूप सिद्ध होता है । इसके आगे 'अत्र' जोड़ने पर 'अमुके+अत्र' इस अवस्था में 'अदसः' सूत्र से एकार की प्रगृह्य संज्ञा हो जायगी । तब प्रकृतिभाव होने पर 'अमुके अत्र' अनिष्ट प्रयोग हो जायगा जब कि साधु प्रयोग 'अमुकेऽत्र' होना चाहिए । यदि कहें कि 'ईदूदेत्'—सूत्र से केवल ईत् और ऊत् ही इसमें अनुवृत्त होंगे एत् नहीं तब तो 'अमुके' में सुतरां प्रगृह्यत्व की प्राप्ति नहीं होगी फिर माद्-ग्रहण व्यर्थ ही है, तो एकार की अनुवृत्ति का प्रतिषेध माद्ग्रहण ही व्यर्थ होकर करता है; अन्यथा एकसमासोपात्त ईत्, ऊत्, एत् के मध्य में से दो ही की अनुवृत्ति हो तीसरे की नहीं—यह नियम कौन करेगा ?

टिप्पणी--दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य--यहाँ 'वाक्यस्य' का तात्पर्य पद से है । **आगच्छ कृष्ण ! अत्र गौश्चरति**--हे कृष्ण ! आओ । यहाँ गाय चरती है। **अमी ईशाः**—ये ईश्वर । **आसाते**--बैठते हैं ।

चादयोऽसत्त्वे १। ४। ५७।।

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।

प्रादयः १। ४। ५८।।

एतेऽपि तथा स्युः ।

निपात एकाजनाङ् १। २। ४।।

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । वाक्य

स्मरणयोरङित् । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् ओष्णम् ।

ओत् ।१। १। १५।।

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ।

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ।१। १। १६।।

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे । विष्णो इति । विष्णविति ।

चादयः प्रथमान्त, असत्त्वे सप्तम्यन्त । अद्रव्यार्थक (अर्थात् अव्ययवाची) चादि (च, वा, ह आदि) की निपात संज्ञा हो । प्रादयः प्रथमान्त । अद्रव्यार्थक प्रादि (प्र, परा आदि) की भी निपात संज्ञा हो । निपातः प्रथमान्त, एकाच् प्रथमान्त, अनाङ् प्रथमान्त । आङ् को छोड़कर एक अच् वाले निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो (अर्थात् आङ् के अतिरिक्त अन्य एकस्वरात्मक निपातों (अव्ययों) की भी प्रगृह्यसंज्ञा होती है) । इ इन्द्रः—'इ+इन्द्रः' इस अवस्था में पूर्व इकार की 'चादयोऽसत्त्वे' से निपातसंज्ञा होने पर 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसंज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने के कारण सवर्णदीर्घ नहीं होत है । उ उमेशः—यहाँ भी 'उ+उमेशः' इस अवस्था में उक्त सूत्रों से क्रमशः निपातसंज्ञा, प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव होने से दीर्घ नहीं होता है । वाक्य तथा स्मरण अर्थ में आ अङित् है (अर्थात् केवल आ समझना चाहिए) । आ एवं नु मन्यसे—'आ+एवं' इ स अवस्था में 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से आ की प्रगृह्यसंज्ञा होती है; क्योंकि यह आ वाक्य के आ होने से अङित् है । अतएव आङ् के अतिरिक्त है । प्रगृह्यसंज्ञा के बाद प्रकृतिभाव होने के कारण यहाँ 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि नहीं होती है । आ एवं किल तत्—यहाँ स्मरणार्थक आ होने से अङित् है, अतएव प्रगृह्यसंज्ञा—प्रकृतिभाव होने के कारण वृद्धि नहीं होती है । (वाक्य और स्मरण से) अन्यत्र आ ङित् होता है । ईषदुष्णम् ओष्णम्—'आ+उष्णम्' इस अवस्था में 'आद्गुणः' से गुण हो जाता है; क्योंकि यहाँ ईषदर्थक आ के ङित् होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव का अभाव है । ओत् प्रथमान्त । ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो (अर्थात् जब निपात ओकारान्त हो तो ओ की

प्रगृह्यसंज्ञा होती है) । अहो ईशाः—'अहो+ईशाः' इस अवस्था में 'ओत्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने के कारण 'एचोऽयवायावः' से अव् आदेश नहीं होता है। सम्बुद्धौ सप्तम्यन्त, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्त, इतौ सप्तम्यन्त, अनार्षे सप्तम्यन्त। पर में अवैदिक 'इति' शब्द के रहने पर सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो विकल्प से । विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति—'विष्णो +इति' इस अवस्था में 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने के कारण अव् आदेश के न होने पर 'विष्णो इति' सिद्ध होता है। प्रगृह्यसंज्ञा के अभाव-पक्ष में अव् आदेश तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से 'व' के लोप हो जाने पर 'विष्ण इति' सिद्ध होता है। लोप के अभावपक्ष में सम्पूर्ण अव् के रह जाने पर 'विष्णविति' रूप सिद्ध होता है।

टिप्पणी—असत्त्वे—सत्त्व=द्रव्य। लिंग और संज्ञा से युक्त शब्द द्रव्यवाची कहलाता है और उससे भिन्न असत्त्व=अद्रव्य अर्थात् अव्ययवाची है। **इ इन्द्रः**—यहाँ 'इ' विस्मयार्थक है। **उ उमेशः**—यहाँ 'उ' का अर्थ वितर्क है। उमेश= महादेव। **वाक्यस्मरणयोरङित्**—यह महाभाष्य के एक श्लोकवार्तिक का अन्तिम चरण है। पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्। जैसे—ईषत् (किंचित्) के अर्थ में —आ+उष्णम्=ओष्णम्। क्रिया के योग में—आ+इहि=एहि। मर्यादा (सीमा) में आ+अब्वेः=आब्वेः। अभिविधि (व्याप्ति) में—आ+एकदेशात् =ऐकदेशात्। वाक्य और स्मरण के उदाहरण ऊपर बताये जा चुके हैं। ओष्णम् —कुछ गरम। **शाकल्यस्य**—शाकल्य नामक आचार्य के मत में इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अन्य के मत में नहीं। इसीलिए इससे प्रगृह्यसंज्ञा विकल्प से होती है।

मय उञो वो वा ८। ३। ३३॥

मय परस्य उञो वो वा स्यादचि। किम्वुक्तम्। किमु उक्तम्।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६। १। १२७॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि परे। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वर-सन्धिः। चक्रि अत्र। चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ।

अचो रहाभ्यां द्वे ८। ४। ४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

[न समासे]

वाप्यश्वः।

ऋत्यकः ६। १। १२८॥

ऋति परे पदान्ता प्राग्वद्वा। ब्रह्म ऋषिः। ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्? आर्च्छत।

॥ इत्यच्सन्धिः ॥

मयः पञ्चम्यन्त, उञः षष्ठ्यन्त, वः प्रथमान्त, वा अव्यय। पर में अच् के रहने पर मय् के आगे उञ् (के उकार) को व आदेश हो विकल्प से। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्—'किमु+उक्तम्' इस अवस्था में 'मय उञो वो वा' सूत्र से किमु के उकार के स्थान में वकार आदेश तथा व के अकार की इत्संज्ञा—लोप होने पर 'किम्वुक्तम्' सिद्ध होता है। वकारादेश के अभावपक्ष में 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृह्या'—सूत्र से प्रकृतिभाव होने पर सवर्णदीर्घ के न होने से 'किमु उक्तम्' रूप बनता है। इकः प्रथमान्त, असवर्णे सप्तम्यन्त, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्त, ह्रस्वः प्रथमान्त, च अव्यय। पर में असवर्ण अच् के रहने पर पदान्त इक् को ह्रस्व और प्रकृतिभाव हो विकल्प से। ह्रस्व विधान करने के कारण स्वर-सन्धि नहीं होती है (अर्थात् यदि इससे ह्रस्वता करने पर भी यण्, गुण आदि हो जायँ तो ह्रस्व करने से लाभ ही क्या? वही व्यर्थ होकर इतर सन्धि का निवारण करता है)। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र—'चक्री+अत्र' इस अवस्था में 'इको यणचि' से प्राप्त यण् को बाधकर 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से ह्रस्व करने पर 'चक्रि अत्र' सिद्ध होता है। ह्रस्व के अभावपक्ष में यण् के हो जाने पर 'चक्र्यत्र' रूप बनता है। 'इकोऽसवर्णे'—सूत्र में 'पदान्त' की अनुवृत्ति क्यों करते हैं? उत्तर—यदि ऐसा नही करेंगे तो 'गौर्यौ' में ह्रस्वापत्ति हो जायगी अर्थात् 'गौरी+औ' इस अवस्था में यण् को बाधकर इस सूत्र से ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव हो जाने पर 'गौरि औ' ऐसा अनिष्ट

प्रयोग हो जायगा। इसलिए 'पदान्त' की अनुवृत्ति करना आवश्यक है। 'पदान्त' के रहने पर इसलिए नहीं होता है कि 'गौरी+औ' में औ पदान्त है, ई पदान्त नहीं है। अचः पञ्चम्यन्त, रहाभ्याम् पञ्चम्यन्त, द्वे प्रथमान्त। अच् के आगे जो रेफ और हकार उनके आगे जो यर् उसको द्वित्व हो विकल्प से। गौर्य्यौ—'गौरी+औ' इस अवस्था में यण् करने के बाद 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से य् को द्वित्व हो जाने पर 'गौर्य्यौ' सिद्ध होता है। न निषेधार्थक अव्यय, समासे सप्तम्यन्त। समास में पदान्त इक् को ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव न हों। वाप्यश्वः—'वापी+अश्वः' इस अवस्था में 'इकोऽसवर्णे'—से ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव की प्राप्ति होती है, किन्तु 'न समासे' से उसका निषेध हो जाता है; फलतः यण् होने पर 'वाप्यश्वः' सिद्ध होता है। ऋति सप्तम्यन्त, अकः प्रथमान्त। पर में ऋत् के रहने पर पदान्त अक् को ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव हो विकल्प से (अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ और लृ जब किसी पद के अन्त में रहें और इनके बाद ह्रस्व 'ऋ' आए तो विकल्प से ह्रस्व हो जाते हैं। यदि पहले से ह्रस्व है तो वह भी फिर से हुआ ह्रस्व माना जायगा और इस प्रकार हुई ह्रस्वविधि में फिर दूसरी सन्धि नही होती)। ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः—'ब्रह्मा+ऋषिः' इस 'अवस्था में आद्गुणः' से प्राप्त गुण को बाधकर 'ऋत्यकः' के ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव होने पर 'ब्रह्म ऋषिः' सिद्ध होता है। ह्रस्व के अभाव-पक्ष में गुण तथा रपर होने पर 'ब्रह्मर्षिः' रूप बनता है। प्रश्न होता है कि 'ऋत्यकः' सूत्र में 'पदान्त' की अनुवृति करने की क्या आवश्यकता? उत्तर—यदि ऐसा नही करेंगे तो 'आर्च्छत्' में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जायगी अर्थात् 'आ+ऋच्छत्' इस अवस्था में 'आटश्च' सूत्र से प्राप्त वृद्धि को बाधकर इससे ह्रस्वता हो जाने पर 'अ ऋच्छत्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जाएगा। 'पदान्त' की अनुवृत्ति करने पर तो यहाँ आ पदान्त नहीं है, इसलिए इसकी प्राप्ति ही नहीं होती है; फलतः 'आटश्च' से वृद्धि तथा रपर होने पर 'आर्च्छत्' रूप सिद्ध होता है।

टिप्पणी—किम्वुक्तम्—यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान में अनुस्वार इसलिए नहीं होता है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'मोऽनुस्वारः' के प्रति 'मय उञो वो वा' की असिद्धि हो जाती है। चक्री=विष्णु। **वाप्यश्वः**—वाप्यामश्वः वाप्यश्वः।

तालाब में घोड़ा । यहाँ शाब्दबोध होता है—'वापीनिष्ठा या अधिकरणता तन्निरूपिता या आधेयता तद्वान् अश्वः' । आर्च्छत्—गया । ऋ धातु के लङ् लकार में आट् आगम तथा ऋच्छ् आदेश होने पर यह रूप होता है ।

॥ अच्सन्धि-प्रकरण समाप्त ॥

अथ हल्सन्धिः

स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे सकारचवर्गौ स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

शात् ८।४।४४॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

स्तोः षष्ठ्यन्त, श्चुना तृतीयान्त, श्चुः प्रथमान्त । सकार और तवर्ग को शकार और चवर्ग के योग होने पर (क्रमशः) शकार और चवर्ग आदेश हो जाता है (अर्थात् जब सकार या तवर्ग शकार या चवर्ग के योग में आता है तो सकार और तवर्ग के स्थान में क्रम से शकार और चवर्ग हो जाता है) रामश्शेते—'रामस्+शेते' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से रामस् के स् के स्थान में श् हो जाने पर 'रामश्शेते' रूप होता है । रामश्चिनोति—'रामस्+चिनोति' इस अवस्था में स् के स्थान में श् होने पर 'रामश्चिनोति' सिद्ध होता है । सच्चित्—'सत्+चित्' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से सत् के त् के स्थान में च् हो जाने पर 'सच्चित्' रूप सिद्ध होता है । शार्ङ्गिञ्जय—'शार्ङ्गिन्+जय' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शार्ङ्गिन् के न् के स्थान में ञ् होने पर 'शार्ङ्गिञ्जय' सिद्ध होता है । शात् पञ्चम्यन्त । शकार से पर तवर्ग को चवर्ग नहीं होता है (अर्थात् जब तवर्ग श् के बाद आते हैं तो उनके स्थान में चवर्ग नहीं होते) । विश्नः—'विश्+नः' इस अवस्था में पूर्व सूत्र से न् के स्थान में प्राप्त ञ् के 'शात्' से निषेध हो जाने पर यथावत् स्थिति रह जाती है । प्रश्नः—यहाँ भी 'प्रश्+नः' इस अवस्था में चुत्व का निषेध होता है ।

टिप्पणी—**रामश्शेते**—राम सोते हैं। **रामश्चिनोति**—राम चयन करते हैं। सच्चित्—सदा विद्यमान ज्ञानस्वरूप ब्रह्म। **शार्ङ्गिञ्जय**—हे शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करने वाले विष्णु ! विजय प्राप्त कीजिए। **विश्नः**—भाषण। **प्रश्नः**—पूछना।

ष्टुना ष्टुः ८। ४। ४१॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

न पदान्ताट्टोरनाम् ८। ४। ४२॥

पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात्किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

[अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्]

षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

तोः षि ८। ४। ४३॥

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

ष्टुना तृतीयान्त, ष्टुः प्रथमान्त। सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग के योग में षकार और टवर्ग हो (अर्थात् जब स् या तवर्ग ष् या टवर्ग के योग में आता है तो स् के स्थान में ष् और तवर्ग के स्थान में टवर्ग हो जाते हैं)। रामष्षष्ठः—'रामस्+षष्ठः' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से स् के स्थान में ष् हो जाने पर 'रामष्षष्ठः' रूप बनता है। रामष्टीकते—'रामस्+टीकते' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से स् के स्थान में ष् होने पर 'रामष्टीकते' सिद्ध होता है। पेष्टा—'पेष्+ता' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से त् के स्थान में ट् हो जाने पर 'पेष्टा' रूप बनता है। तट्टीका—'तत्+टीका' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से तत् के अन्तिम त् के स्थान में ट् हो जने प'र 'तट्टीका रूप बनता है। चक्रिण्ढौकसे—'चक्रिन्+ढौकसे' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से न् के स्थान में ण् हो जाने पर 'चक्रिण्ढौकसे' सिद्ध होता है। न निषेधार्थक अव्यय, पदान्तात्

पञ्चम्यन्त, टौः पञ्चम्यन्त, अनाम् प्रथमान्त । पदान्त टवर्ग से परे नाम् के नकार को छोड़कर कोई तवर्ग या सकार हो तो उसके स्थान में टवर्ग या षकार आदेश नहीं होता है। षट् सन्तः—'षट्+सन्तः' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से स् के स्थान में ष् प्राप्त होता है, किन्तु 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से उसका निषेध हो जाता है । षट् ते—यहाँ भी त् के स्थान में प्राप्त ट् का निषेध हो जाता है। प्रश्न होता है कि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र में 'पदान्तात्' क्यों कहा । उत्तर यदि ऐसा नहीं कहेंगे तो 'ईट्टे' में ष्टुत्व का निषेध हो जायगा, अर्थात् 'ईट्+ते' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से त् के स्थान में होने वाले ट् के 'न टोरनाम्' से निषेध हो जाने पर 'ईट् ते' अनिष्ट प्रयोग हो जायगा । 'पदान्त' कहने पर तो यहाँ ट् पदान्त नहीं है बल्कि ए पदान्त है, अतएव निषेध नहीं होता है । यदि कहें कि उक्त सूत्र में 'टोः' का उपादान क्यों किया तो ऐसा न करने से 'सर्पिष्तमम्' में ष्टुत्व का निषेध हो जायगा, अर्थात् 'सर्पिष्+तमम्' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः से तकार के स्थान में टकार ष्टुत्व होने पर 'सर्पिष्टमम्' बनता है । उसका इससे निषेध हो जाने पर 'सर्पिष्तमम्' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा । यदि 'टोः' का उपादान करते हैं तो यहाँ पदान्त टवर्ग का कोई वर्ण नहीं है, इसलिए ष्टुत्व-निषेध की कोई बात नहीं उठती । अनाम्नवतिनगरीणाम् षष्ठ्यन्त, इति अव्यय, वाच्यम् प्रथमान्त । पदान्त टवर्ग के आगे नाम्, नवति और नगरी से भिन्न सकार और तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है । षण्णाम्—'षड्+नाम्' इस अवस्था में 'ष्टुना ष्टुः' से नकार के स्थान में ष्टुत्व णकार होता है। यहाँ 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से ष्टुत्व निषेध की प्राप्ति होती है किन्तु उसका भी निषेध 'अनाम्नवतिनगरीणाम्' से हो जाता है, फलतः ष्टुत्व होता ही है। ष्टुत्व के वाद 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से ड् के स्थान में ण् अनुनासिक होने पर 'षण्णाम्' की सिद्धि होती है । षण्णवतिः—'षड्+नवतिः' इस अवस्था में और षण्णगर्यः—'षड्+नगर्यः' इस अवस्था में 'अनाम्नवतिनगरीणाम्' के कारण न् के स्थान में ण् ष्टुत्व होने के वाद दोनों प्रयोगों में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से ड् के स्थान में ण् अनुनासिक होने पर 'षण्णवतिः' 'षण्णगर्यः' रूप सिद्ध होते हैं। तोः षष्ठ्यन्त, षि सप्तम्यन्त । पर में षकार के रहने पर तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है । सन्षष्ठः—'सन्+षष्ठः' इस अवस्था

में 'ष्टुना ष्टुः' से न् के स्थान में ण् ष्टुत्व प्राप्त होता है किन्तु 'तोः षि' से उसका निषेध हो जाने पर 'सन्षष्ठः' ज्यों का त्यों रह जाता है।

टिप्पणी—**रामष्षष्ठः**—राम छठा है। **रामष्टीकते**—राम जाता है। **पेष्टा**—पीसने वाला। **तट्टीका**—उसकी व्याख्या। **चक्रिण्ढौकसे**—हे कृष्ण ! तुम जाते हो। **षट्सन्तः**—छह महात्मा। **षट् ते**—तुम्हारे छह । **ईट्टे**—स्तुति करता है। **सर्पिष्टमम्**—अत्यंत घी। **षण्णाम्**—छह का। **षण्णवतिः**—छियानवे। **षण्णगर्यः**—छह नगरियाँ। **सन्षष्ठः**—महात्मा छठा है।

झलां जशोऽन्ते ८। २। ३९॥

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८। ४। ४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः। एतद्-मुरारिः।

[प्रत्यये भाषायां नित्यम्]

तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

तोर्लि ८। ४। ६०॥

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात्। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नकार-स्याऽनुनासिको लकारः।

झलां षष्ठ्यन्त, जशः प्रथमान्त, अन्ते सप्तम्यन्त। पदान्त में विद्यमान झल् के स्थान में जश् आदेश हो। वागीशः—'वाक्+ईशः' इस अवस्था में 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से क् के स्थान में ग् होने पर 'वागीशः' रूप बनता है। 'यरः षष्ठ्यन्त, अनुनासिके सप्तम्यन्त, अनुनासिकः प्रथमान्त, वा अव्यय। पर में अनुनासिक के रहने पर पदान्त यर् को विकल्प से अनुनासिक हो (अर्थात् यदि यर् प्रत्याहार (ह को छोड़कर किसी पदान्त व्यंजन) के बाद कोई अनुनासिक वर्ण आये तो यर् के स्थान में उसी वर्ग वाला अनुनासिक वर्ण विकल्प से होता है)। एतन्मुरारिः—'एतद्+मुरारिः' इस अवस्था में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको

वा' से द् के स्थान में न् अनुनासिक हो जाने पर 'एतन्मुरारिः' सिद्ध होता है। अनुनासिक के अभाव-पक्ष में 'एतद्मुरारिः' यथावस्थित रह जाता है। प्रत्यये सप्तम्यन्त, भाषायां सप्तम्यन्त, नित्यम् प्रथमान्त । पर में प्रत्यय के रहने पर भाषा (लौकिक प्रयोग में) पदान्त यर् को नित्य अननासिक हो (अर्थात यदि किसी प्रत्यय का अनुनासिक वर्ण आगे हो तो अनुनासिक नित्य होता है)। तन्मात्रम्––'तद्+मात्रम्' इस अवस्था में 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से द् के स्थान में न् अनुनासिक होने पर 'तन्मात्रम्' की सिद्धि होती है। चिन्मयम्–– 'चिद्+मयम्' इस अवस्था में इसी से अनुनासिक होता है। तोः षष्ठ्यन्त, लि सप्तम्यन्त। पर में लकार के रहने पर तवर्ग को। परसवर्ण हो (अर्थात् तवर्ग के बाद यदि ल् आए तो तवर्ग के स्थान में ल् हो जाता है) तल्लयः–– 'तत्+लयः' इस अवस्था में 'तोर्लि' से तत् के अन्तिम तकार के स्थान में ल् परसवर्ण हो जाने पर 'तल्लयः' सिद्ध होता है। विद्वाँल्लिखति––'विद्वान्+लिखति' इस अवस्था में 'तोर्लि' से न् के स्थान में अनुनासिक ल् अर्थात् लँ होने पर 'विद्वाँल्लिखति' सिद्ध होता है।

टिप्पणी––वागीशः––बृहस्पति। वाचाम् ईशः वागीशः। **एतन्मुरारिः**–– यह विष्णु। एष चासौ मुरारिः एतन्मुरारिः। **तन्मात्रम्**––वही। तद् शब्द से मात्रच् प्रत्यय होता है। **चिन्मयम्**––चित्स्वरूप। चित् शब्द से मयट् प्रत्यय होता है। **तल्लयः**––उसका नाश। तस्य लयः। **विद्वाँल्लिखति**––विद्वान् लिखता है।

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८। ४। ६१॥

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात्।

तस्मादित्युत्तरस्य १। १। ६७॥

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

आदेः परस्य १। १। ५४॥

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः।

झरो झरि सवर्णे ८। ४। ६५॥

हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात् सवर्णे झरि ।

खरि च ८। ४। ५५।।

खरि परे झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।

उदः पञ्चम्यन्त, स्थास्तम्भोः षष्ठ्यन्त, पूर्वस्य षष्ठ्यन्त । उद् से पर जो स्था और स्तम्भ उनके स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश हो। (अर्थात् यदि उद् के पश्चात् स्था या स्तम्भ शब्द आये तो उनके स् को थ् का आदेश हो)। तस्मात् पञ्चम्यन्त, इति अव्यय, उत्तरस्य षष्ठ्यन्त। पंचमी के निर्देश से किया जाने वाला कार्य अन्य वर्ण के व्यवधान से रहित परवर्ती वर्ण के स्थान में हो (अर्थात् जो कार्य पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण करके किया जाता है, वह पञ्चम्यन्त पदबोधित वर्ण के अव्यवहित अगले वर्ण के स्थान में होता है; फलतः पञ्चमी-निर्दिष्ट वर्ण एवं उसके परवर्ती स्थानी के बीच अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए। आदेः षष्ठ्यन्त, परस्य षष्ठ्यन्त। परवर्ती वर्ण के स्थान में जो कार्य किया जाय, वह उसके आद्य अक्षर के स्थान में हो। इससे (उत्थानम् में) सकार को थकार (परसवर्ण) होता है। झरः षष्ठ्यन्त, झरि सप्तम्यन्त, सवर्णे सप्तम्यन्त। हल् के परवर्ती झर् का लोप हो पर में सवर्ण झर् के रहने पर विकल्प से। खरि सप्तम्यन्त, च अव्यय। पर में खर् के रहने पर झल् के स्थान में चर् आदेश हो। इससे उद् के दकार को तकार होता है। उत्थानम्—'उद्+स्थानम्' इस अवस्था में 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्र से पूर्वसवर्ण होता है; किन्तु वह पूर्वसवर्ण 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र के बल से 'स्था' के स्थान में प्राप्त होता है; फिर 'आदेः परस्य' से 'स्था' के आदिभूत सकार के स्थान में अघोष तथा महाप्राण प्रयत्न के सादृश्य से थकार पूर्वसवर्ण हो जाने पर 'उद् थ् थानम्' इस अवस्था में 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से दकारोत्तरवर्ती थकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है; पश्चात् 'खरि च' से द् के स्थान में त् चर्त्व होने पर 'उत्थानम्' सिद्ध होता है। लोप के अभाव-पक्ष में 'उत्थ्थानम्' रूप होता है। **उत्तम्भनम्**—'उद्+स्तम्भनम्' इस अवस्था में 'उत्थानम्' की तरह पूर्वसवर्ण, लोप तथा चर्त्व होने पर 'उत्तम्भनम्' रूप होता है और लोपाभावपक्ष में, 'उत्थ्तम्भनम्' प्रयोग बनता है।

टिप्पणी--पञ्चमीनिर्देशेन—पञ्चम्यन्त पद के उपादान से। जैसे—'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्र में 'उदः' इस पञ्चम्यन्त पद के उपादान से पूर्व-सवर्णरूप कार्य का विधान किया गया है। **उत्थानम्**—उठना, उन्नति। **उत्तम्भनम्**—रोकना, अवरोध।

झयो होऽन्यतरस्याम् ८। ४। ६२॥

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात्। नादस्य घोषस्य संवारस्य महा-प्राणस्य तादृशो वर्गचतुर्थः। वाग्घरिः। वाग्हरिः।

शश्छोऽटि ८। ४। ६३॥

पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि। तद् शिव इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते खरि चेति जकारस्य चकारः। तच्छिवः। तच्शिवः।

[छत्वममीति वाच्यम्]।

तच्छ्लोकेन।

झयः पञ्चम्यन्त, हः षष्ठ्यन्त, अन्यतरस्याम् सप्तम्यन्त। झय् से पर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण हो (अर्थात् यदि झय् प्रत्याहार के बाद ह् आये तो ह् के स्थान में उसी झय् प्रत्याहारघटकवर्ण के वर्ग का चौथा अक्षर विकल्प से होता है)। नाद, घोष, संवार और महाप्राण प्रयत्न वाले हकार के स्थान में वैसा ही (अर्थात् इन्हीं प्रयत्नों वाला) वर्ग का चौथा अक्षर (पूर्वसवर्ण) हो। वाग्घरिः, वाग्हरिः--'वाक्+हरिः' इस अवस्था में 'झलां जशोऽन्ते' से क् के स्थान में ग् जश्त्व होने के बाद 'झयो होऽन्यतरस्याम्' से घोष, नाद, महाप्राण एवं संवार प्रयत्न वाले ह् के स्थान में इन्हीं प्रयत्नों से युक्त घ् पूर्वसवर्ण होने पर 'वाग्घरिः' सिद्ध होता है। पूर्वसवर्ण के अभाव पक्ष में 'वाग्हरिः' रूप होता है। शः षष्ठ्यन्त, छः प्रथमान्त, अटि सप्तम्यन्त। पदांत झय् से पर शकार के स्थान में छकार हो विकल्प से अट् के परे (अर्थात् श् यदि किसी ऐसे शब्द के बाद आये, जिसके अन्त में झय् प्रत्याहार घटकवर्ण हो और श् के बाद अट् प्रत्याहार घटकवर्ण रहे तो श् के स्थान में विकल्प से छ होता है)। 'तद्+शिवः' इस अवस्था में द् के स्थान में ज् श्चुत्व होने पर 'खरि च' से जकार को

चकार हो जाता है । तच्छिवः, तच्शिवः––'तद्+शिव' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व तथा 'खरि च' से चर्त्व होने पर 'तच् शिवः' इस अवस्था में 'शश्छोऽटि' से श् के स्थान में छ् हो जाने पर 'तच्छिवः' रूप बनता है । छत्व के अभाव-पक्ष में 'तच्शिवः' रूप रह जाता है । छत्वम् प्रथमान्त, अमि सप्तम्यन्त, इति अव्यय, वाच्यम् प्रथमान्त । पर में अम् के रहने पर छत्व हो । (अर्थात् यदि शकार के पूर्व में पदान्त झय् और पर में अम् रहे तो उसके स्थान में विकल्प से छकार हो) । तच्छ्लोकेन––'तद्+श्लोकेन' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से द् के स्थान में ज् श्चुत्व तथा 'खरि च' से ज् की जगह च् चर्त्व होने पर 'छत्वममीति वाच्यम्' से श् को छ् हो जाता है; फलतः 'तच्छ्लोकेन' सिद्ध होता है ।

टिप्पणी––वाग्घरिः––वाणी का ईश्वर, वाक्पति । यह तो कवर्ग का उदाहरण दिखाया गया है । इसी प्रकार चवर्ग, टवर्ग, पवर्ग के भी उदाहरण क्रमशः देखिये––'अज्झीनम्, षड्ढलानि, तद्धविः, गुब्भसतिः' । **तच्छिवः**––उसका शिव वा वह शिव । **तच्छ्लोकेन**––उस श्लोक से ।

मोऽनुस्वारः ८ । ३ । २३ ॥

मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्धलि । हरिं वन्दे ।

नश्चाऽपदान्तस्य झलि ८ । ३ । २४ ॥

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे ।

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८ । ४ । ५८ ॥

स्पष्टम् । शान्तः ।

वा पदान्तस्य ८ । ४ । ५९ ॥

पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि ।

मः षष्ठ्यन्त, अनुस्वारः प्रथमान्त । पर में हल् के रहने पर मान्त पद के स्थान में अनुस्वार हो (अर्थात् पदान्त म् के बाद यदि कोई व्यंजन आये तो म्

के स्थान में अनुस्वार हो जाता है) । हरिं वन्दे--'हरिम्+वन्दे' इस अवस्था में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से म् के स्थान में अनुस्वार होने पर 'हरिं वन्दे' सिद्ध होता है । नः षष्ठ्यन्त, च अव्यय, अपदान्तस्य षष्ठ्यन्त, झलि सप्तम्यन्त । पर में झल् के रहने पर अपदान्त नकार और मकार के स्थान में अनुस्वार हो (अर्थात् अपदान्त न्, म् के बाद यदि झल् आये तो न्, म् के स्थान में अनुस्वार हो जाता है) । यशांसि--'यशान्+सि' इस अवस्था में 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' इस सूत्र से न् के स्थान में अनुस्वार हो जाने पर 'यशांसि' सिद्ध होता है । आक्रंस्यते--'आक्रम्+स्यते' इस अवस्था में 'नश्चा--' सूत्र से म् के स्थान में अनुस्वार हो जाने पर 'आक्रंस्यते' की सिद्धि होती है । प्रश्न होता है कि इस सूत्र में झलि क्यों कहा । उत्तर--यदि यह न कहेंगे तो 'मन्यसे' में इस सूत्र से न् के स्थान में अनुस्वार हो जायगा । 'झलि' कहने पर तो यहाँ न् के बाद य् है जो झल् नहीं है, अतएव अनुस्वार नहीं होता है । अनुस्वारस्य षष्ठ्यन्त, ययि सप्तम्यन्त, परसवर्णः प्रथमान्त । पर में यय् के रहने पर अपदान्त अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण हो (अर्थात् यदि पद के मध्य में स्थित अनुस्वार के बाद यय् आए तो अनुस्वार के स्थान में सदा उस वर्ग का पंचम वर्ण हो जाता है, जिस वर्ग का व्यंजन वर्ण अनुस्वार के बाद रहता है) । शान्तः--'शाम्+तः' इस अवस्था में 'नश्चा--' सूत्र से म् के स्थान में अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान में न् परसवर्ण होने पर 'शान्तः' सिद्ध होता है । वा अव्यय, पदान्तस्य षष्ठ्यन्त । पर में यय् के रहने पर पदान्त अनुस्वार के स्थान में विकल्प से परसवर्ण हो (अर्थात् यदि अनुस्वार किसी पद के अन्त में हो तो उक्त प्रकार से होने वाला परसवर्ण विकल्प से होता है) । त्वङ्करोषि, त्वं करोषि--'त्वम्+करोषि' इस अवस्था में 'मोऽनुस्वारः' से म् के स्थान में अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से उसके स्थान में ङ् परसवर्ण होने पर 'त्वङ्करोषि' सिद्ध होता है । परसवर्ण के अभाव-पक्ष में केवल अनुस्वार होने पर 'त्वं करोषि' रूप बनता है ।

टिप्पणी--हरिं वन्दे--विष्णु की वंदना करता हूँ । यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार तो मान्त पद 'हरिम्' को प्राप्त होता है, किन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र के बल से अन्त्य अल् 'म्' के स्थान में ही वह होता है । **यशांसि**--यशः समूह ।

आक्रंस्यते— आक्रमण करेगा । **शान्तः**—चुप । इसी प्रकार अङ्कितः, अञ्चितः, कुण्ठितः, गुम्फितः इत्यादि उदाहरण भी समझने चाहिए । **त्वङ्करोषि**—तुम करते हो

मो राजि समः क्वौ ८। ३। २५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् ।

हे मपरे वा ८। ३। २६॥

मपरे हकारे परे मस्य मो वा स्यात् । किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति ।

[यवलपरे यवला वा]

कियँ ह्यः, किं ह्यः । किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति ।

नपरे नः ८। ३। २७॥

नपरे हकारे परे मस्य नो वा स्यात् । किन् ह्नुते । किं ह्नुते ।

मः प्रथमान्त, राजि सप्तम्यन्त, समः षष्ठ्यन्त, क्वौ सप्तम्यन्त । पर क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु के रहने पर सम् के मकार के स्थान में मकार ही होगा अनुस्वार नहीं होगा । **सम्राट्**—'सम्+राट्' इस अवस्था में 'मोऽनुस्वारः' से प्राप्त अनुस्वार को बाधकर 'मो राजि समः क्वौ' से सम् के म् के स्थान में म् आदेश होने पर 'सम्राट्' रूप बनता है । हे सप्तम्यन्त, मपरे सप्तम्यन्त वा अव्यय । म् है पर में जिसके ऐसे ह् के परे रहने से म् के स्थान में म् हो विकल्प से । किम् ह्मलयति—'किम्+ह्मलयति' इस अवस्था में अनुस्वार को बाधकर 'हे मपरे वा' से म् आदेश होने पर 'किम् ह्मलयति' रूप होता है। म् आदेश के अभाव-पक्ष में अनुस्वार होने पर 'किं ह्मलयति' रूप होता है। यवलपरे सप्तम्यन्त, यवलाः प्रथमान्त, वा अव्यय । य, व, ल हैं पर में जिसके ऐसे हकार के परे रहने पर म् के स्थान में क्रमशः अनुनासिकविशिष्ट 'यँ वँ लँ' आदेश हों विकल्प से । कियँ ह्यः—'किम्+ह्यः' इस अवस्था में 'यवलपरे यवला वा' से म् के स्थान में यँ हो जाने पर कियँ ह्यः रूप बनता है । यँ

आदेश के अभाव-पक्ष में अनुस्वार हो जाने पर 'किं ह्यः' रूप होता है। किवँ् ह्वलयति---'किम्+ह्वलयति' इस अवस्था में 'यवलपरे यवला वा' से वँ् आदेश होने पर 'किवँ् ह्वलयति' सिद्ध होता है। और वँ् के अभाव-पक्ष में अनुस्वार होने पर 'किं ह्वलयति' बनता है। किलँ् ह्लादयति---'किम्+ह्लादयति' इस अवस्था में 'यवलपरे यवला वा' से लँ् आदेश होने पर 'किलँ् ह्लादयति' और लँ् के अभाव में अनुस्वार होने पर 'किं ह्लादयति' रूप बनते हैं। नपरे सप्त-म्यन्त, नः प्रथमान्त। न है पर में जिसके ऐसे हकार के परे म् के स्थान में न् आदेश हो विकल्प से। किन् ह्नुते---'किम्+ह्नुते' इस अवस्था में प्राप्त अनुस्वार को बाधकर 'नपरे नः' सूत्र से म् के स्थान् में न् हो जाने पर 'किन ह्नुते' और न् के अभाव में अनुस्वार होने पर 'किं ह्नुते' रूप बनते हैं।

टिप्पणी---सम्राट्---चक्रवर्ती राजा। **किम् ह्मलयति**---क्या चलता है? **कियँ् ह्यः**---क्या कल (पूर्व दिन)? **किवँ् ह्वलयति**---क्या चलता है? **किलँ् ह्लादयति**---क्या आनन्दित करता है? **किन् ह्नुते**---क्या दूर करता या छिपाता है?

आद्यन्तौ टकितौ १। १। ४६॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट् त्सन्तः। षट्सन्तः।

ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८। ३। २८॥

ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि।

[चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्]

प्राङ्ख्षष्ठः। प्राङ्क्षष्ठः। प्राङ्षष्ठः। सुगण्ठ्षष्ठः। सुगण्टषष्ठः। सुगण्षष्ठः।

डः सि धुट् ८। ३। २९॥

डात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात्।

नश्च ८। ३। ३०॥

नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात्। सन्त्सः। सन्सः।

आद्यन्तौ प्रथमान्त, टकितौ प्रथमान्त। जिसको टित् (आगम) और कित्

(आगम) होते हैं, उसके क्रमशः आद्यावयव और अन्तावयव होकर वे दोनों रहते हैं (अर्थात् टित् आगम उसके पूर्व में होता है और कित् आगम पर में)। षट्त्सन्तः—'षड्+सन्तः' इस अवस्था में 'डः सि धुट्' से सकार को होने वाला धुट् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के बल से डकार से पर सकार के आदि में होता है। पश्चात् इत्संज्ञक उट् के लोप हो जाने पर 'षड्ध्सन्तः' इस अवस्था में 'खरि च' से ध के स्थान में त् चर्त्व होने पर 'षट्त्सन्तः' और धुट् आगम के अभाव-पक्ष में 'षट्सन्तः' रूप होते हैं। ङणोः षष्ठ्यन्त, कुक्टुक् प्रथमान्त, शरि सप्तम्यन्त। पर में शर् के रहने पर ङकार और णकार को कुक् और टुक् का आगम हो विकल्प से। चयः षष्ठ्यन्त, द्वितीयाः प्रथमान्त, शरि सप्तम्यन्त। पौष्करसादेः षष्ठ्यन्त। पर में शर् के रहने पर चय् (वर्ग के प्रथम अक्षरों) के स्थान में द्वितीय अक्षर हो पौष्करसादि आचार्य के मत से अर्थात् विकल्प से। प्राङ्ख्षष्ठः—'प्राङ+षष्ठः' इस अवस्था में 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' सूत्र से ङकार को होने वाला कुक् आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के बल से ङकार से पर में होता है। पश्चात् इत्संज्ञक उक् के लोप हो जाने पर 'प्राङक्षष्ठः' इस अवस्था में 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' से क् के स्थान में ख् हो जाता है, फलतः 'प्राङ्ख्षष्ठः' सिद्ध होता है। ख् आदेश के विकल्प-पक्ष में कुक् आगम के बाद क् और ष के परस्पर मिलकर क्ष हो जाने पर 'प्राङक्षष्ठः' रूप बनता है। फिर कुक् आगम के भी विकल्प-पक्ष में 'प्राङषष्ठः' ज्यों का त्यों रह जाता है। सुगण्ठ्षष्ठः—'सुगण्+षष्ठः' इस अवस्था में 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' सूत्र से प्राप्त टुक् आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के बल से ण् से पर में होता है। पश्चात् इत्संज्ञक उक् के लोप हो जाने पर 'चयो द्वितीयाः शरि—' इत्यादि वार्तिक से ट् के स्थान में ठ् हो जाता है, जिससे 'सुगण्ठ्षष्ठः' सिद्ध होता है। ठ् आदेश के अभाव-पक्ष में केवल टुक् आगम होने पर 'सुगण्ट्षष्ठः' और टुक् आगम के भी अभाव हो जाने पर 'सुगणषष्ठः' रूप होता है। डः पञ्चम्यन्त, सि सप्तम्यन्त, धुट् प्रथमान्त। डकार के आगे सकार को धुट् का आगम हो, विकल्प से। नः पञ्चम्यन्त, च अव्यय। नकारान्त पद के आगे सकार को धुट् का आगम हो, विकल्प से। सन्त्सः—'सन्+सः' इस अवस्था में 'नश्च' सूत्र से सकार को धुट् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के बल से आद्यावयव होकर होता है। धुट् के विकल्प-पक्ष में 'सन्सः' ज्यों का त्यों रह जाता है।

टिप्पणी—आद्यन्तौ टकितौ—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, टश्च कश्च टकौ तौ इतौ ययो: तौ टकितौ। यहाँ 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस परिभाषा के बल से इत् शब्द का सम्बन्ध ट और क दोनों से है इसलिए टित् और कित्—यह अर्थ लब्ध होता है। **कुक्टुक**—ये दोनों आगम हैं। आगम मित्रवत् होता है और आदेश शत्रुवत् अर्थात् कुक् आदि आगम जिस वर्ण के होते हैं, उसके वे मित्र की भाँति अङ्ग बन जाते हैं, किन्तु यण् आदि आदेश जिस वर्ण के होते हैं, उसको वे शत्रु की तरह हटाकर उसका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। **पौष्करसादेः**—पौष्करसादि नामक आचार्य के मत में। पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत् तस्यापत्यं पौष्करसादिः तस्य। **प्राङ् खषष्ठः**—छठा पूर्वदेश वासी। **सुगण्ठ्षष्ठः**—छठा सुन्दर गणना करने वाला। **सन्त्सः**—विद्यमान वह।

शि तुक् ८। ३। ३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा स्यात्। सञ्छम्भुः। सञ्च्छम्भुः। सञ्शम्भुः। सन्शम्भुः।

शि सप्तम्यन्त, तुक् प्रथमान्त। पर में शकार के रहने पर पदान्त नकार को तुक् का आगम हो, विकल्प से। सञ्छम्भुः—'सन्+शम्भुः' इस अवस्था में 'शि तुक्' सूत्र से तुक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' के बल से न् के अंत में हुआ, फिर इत्संज्ञक उक् के लोप होने के बाद 'सन् त् शम्भुः' इस अवस्था में 'शश्छोऽटि' सूत्र से शम्भुघटक श् के स्थान में छ् हुआ, फिर 'सन् त् छम्भुः' इस अवस्था में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से त् के स्थान में च् श्चुत्व होने पर 'सन च् छम्भुः' इस अवस्था में पुनः उक्त सूत्र से चकार के योग में न् के स्थान में ञ् श्चुत्व हुआ, फिर 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से चलोप होने पर 'सञ्छम्भुः' सिद्ध हुआ। चलोप के अभाव-पक्ष में 'सञ्च्छम्भुः', छत्व के अभाव-पक्ष में 'सञ्शम्भुः' और तुक् के अभाव-पक्ष में 'सन् शम्भुः' रूप होते हैं।

टिप्पणी—सञ्छम्भुः—विद्यमान शङ्कर। इसके रूप के बारे में कहा है—'ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्। रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्।'

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८। ३। ३२॥

ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याऽचो नित्यं ङमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ।

ङमः पञ्चम्यन्त, ह्रस्वात् पञ्चम्यन्त, अचि सप्तम्यन्त, ङमुट् प्रथमान्त, नित्यम् प्रथमान्त । ह्रस्व से पर जो ङम् तदन्त जो पद उससे पर जो अच् उसको नित्य ङमुट् का आगम हो । प्रत्यङ्ङात्मा--'प्रत्यङ्+आत्मा' इस अवस्था में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इस सूत्र से ङ से आगे के आ को ङमुट् आगम तथा अनुबन्ध अमुट् के लोप हो जाने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' सिद्ध होता है । सुगण्णीशः —'सुगण्+ईशः' इस अवस्था में 'ङमो ह्रस्वादचि--' सूत्र से ई को ण् ङमुट् आगम होने पर 'सुगण्णीशः' सिद्ध होता है । सन्नच्युतः--'सन्+अच्युतः' इस अवस्था में 'ङमो ह्रस्वादचि--' सूत्र से न् आगे के अ को न् ङमुट् आगम होने पर 'सन्नच्युतः' सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—ङमुट्—यहाँ ङम्प्रत्याहारघटकवर्ण—ङकार, णकार, नकार—में से प्रत्येक के उट् के साथ सम्बन्ध होने से ङुट्, णुट्, नुट् ये तीन आगमा समझने चाहिए। प्रत्यङ्ङात्मा—अन्तरात्मा । सुगण्णीशः—सुन्दर गणना करने वालों का स्वामी । सन्नच्युतः—सत् रूप विष्णु ।

समः सुटि ८। ३। ५।।

समो रुः स्यात् सुटि ।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८। ३। २।।

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् ।

अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८। ३। ४।।

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८। ३। १५।।

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् ।

[सम्पुङ्कानां वक्तव्यः ।]

सँस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता ।

पुमः खय्यम्परे ८। ३। ६।।

अम्परे खयि पुमो रुः स्यात् । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः ।

समः षष्ठ्यन्त, सुटि सप्तम्यन्त । पर में सुट् के रहने पर सम् के मकार के स्थान में रु आदेश हो । अत्र अव्यय, अनुनासिकः प्रथमान्त, पूर्वस्य षष्ठ्यन्त, तु अव्यय, वा अव्यय । यहाँ रु आदेश के प्रकरण में रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक आदेश हो, विकल्प से । अनुनासिकात् पञ्चम्यन्त परः प्रथमान्त, अनुस्वारः प्रथमान्त । अनुनासिक को छोड़कर रु से पूर्व वर्ण के परे अनुस्वार का आगम हो । पदान्त र् के बाद खर् प्रत्याहार (वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श् ष् स्) का कोई वर्ण हो अथवा कोई भी वर्ण न हो, तो र् के स्थान में विसर्ग हो जाता है। सम्पुङ्कानां षष्ठ्यन्त, सः प्रथमान्त, वक्तव्यः प्रथमान्त। सम्, पुम्, कान्, इनके विसर्ग के स्थान में स् आदेश कहना चाहिए। सँस्कर्ता— 'सम्+कर्ता' इस अवस्था में 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इस सूत्र से सुट् आगम तथा अनुबन्ध लोप होने पर 'सम्+स्कर्ता' इस अवस्था 'समः सुटि' सूत्र से सम् के मकार के स्थान में र् होता है, फिर 'सर्+स्कर्ता' इस अवस्था में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से र् से पूर्व अनुनासिक होने पर 'सँर्+स्कर्ता' इस अवस्था में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से रेफ को विसर्ग हो जाता है, फिर 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग के स्थान में प्राप्त होने वाले सत्व को बाधकर 'वा शरि' से विसर्ग को विसर्ग ही प्राप्त होता है, किन्तु उसको भी बाधकर 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से विसर्ग को सत्व हो जाने पर 'सँस्कर्ता' सिद्ध होता है । अनुनासिक के अभाव-पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' सूत्र से अनुस्वार होने पर 'संस्कर्ता' रूप बनता है । पुमः षष्ठ्यन्त, खयि सप्तम्यन्त, अम्परे सप्तम्यन्त । अम् है पर में जिसके ऐसा खय् पर में हो, तो पुम् के स्थान में रु आदेश हो । पुँस्कोकिलः—'पुम्+कोकिलः' इस अवस्था में 'पुमः खय्यम्परे' सूत्र से म् के स्थान में रुत्व तथा अनुबन्धलोप होने पर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इस सूत्र से अनुनासिक हो जाता है, तब 'पुँर्+कोकिलः' इस अवस्था में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग हो जाने पर 'कुप्वोः ⌣क ⌣पौ च' से जिह्वामूलीय की प्राप्ति होती है, उसको बाधकर 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से विसर्ग को सत्व हो जाने पर 'पुँस्कोकिलः' सिद्ध होता है । अनुनासिक

के अभाव में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो जाने पर 'पुंस्कोकिलः' रूप बनता है।

टिप्पणी—**संस्कर्ता**—अलंकृत करने वाला। **पुँस्कोकिलः**—नर कोयल। 'पुमांश्चासौ कोकिलः' कर्मधारयसमास।

नश्छव्यप्रशान् ८। ३। ७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य।

विसर्जनीयस्य सः ८। ३। ३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व। चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति।

नस् प्रथमान्तानुकरणकलुप्तषष्ठ्यन्त, छवि सप्तम्यन्त, अप्रशान् प्रथमान्तानुकरणक लुप्तषष्ठ्यन्त। अम् है पर में जिसके ऐसा छव् पर में हो तो प्रशान् भिन्न नान्त पद के स्थान में रु आदेश हो। विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्त, सः प्रथमान्त। पर में खर् के रहने पर विसर्ग के स्थान में स् आदेश हो। चक्रिँस्त्रायस्व—'चक्रिन्+त्रायस्व' इस अवस्था में 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र से न् के स्थान में रु आदेश तथा अनुबन्धलोप होने पर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से अनुनासिक हो जाता है, फिर 'चक्रिँर्+त्रायस्व' इस अवस्था में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग तथा 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सत्व हो जाने पर 'चक्रिँस्त्रायस्व' सिद्ध होता है। अनुनासिक के अभाव-पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होने पर 'चक्रिंस्त्रायस्व' रूप बनता है। प्रश्न होता है कि 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र में 'अप्रशान्' क्यों कहा। उत्तर—यदि नहीं कहेंगे तो 'प्रशान् तनोति' में इस सूत्र से रु आदेश तथा विसर्गादि हो जाने पर 'प्रशाँस्तनोति' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा। फिर प्रश्न होता है कि इस सूत्र में 'पदान्तस्य' की अनुवृत्ति करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर—यदि नहीं करेंगे तो 'हन्ति' में इस सूत्र से रु का आदेश तथा विसर्गादि हो जाने पर 'हँस्ति' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा।

टिप्पणी—**चक्रिँस्त्रायस्व**—हे विष्णो! रक्षा करो। **प्रशान् तनोति**—अत्यन्त शान्तिशील (व्यक्ति) विस्तार करता है। **हन्ति**—मारता है।

नॄन् पे ८। ३। १०॥

नॄनित्यस्य रुः स्याद्वा पकारे परे।

कुप्वोः ⌒ क ⌒ पौ च ८। ३। ३७॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्ग ⌒ क ⌒ पौ स्तः। चाद्विसर्गः। नॄँ ⌒ पाहि। नॄं ⌒ पाहि। नॄँः पाहि। नॄंः पाहि। नॄन् पाहि।

तस्य परमाम्रेडितम् ८। १। २॥

द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितं स्यात्।

कानाम्रेडिते ८। ३। १२॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे। काँस्कान्। कांस्कान्।

छे च ६। १। ७३॥

ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्। शिवच्छाया।

पदान्ताद्वा ६। १। ७६॥

दीर्घात् पदान्ताच्छे परे तुग् वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मीछाया।

नॄन् द्वितीयान्तानुकरणक लुप्त षष्ठ्यन्त, पे सप्तम्यन्त। पर में पकार के रहने पर नॄन् के नकार के स्थान में रु हो, विकल्प से। कुप्वोः सप्तम्यन्त ⌒ क ⌒ पौ प्रथमान्त, च अव्यय। पर में कवर्ग और पवर्ग के रहने पर बिसर्ग के स्थान में क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय हो। चकरात् विसर्ग को विसर्ग ही हो। नॄँ ⌒ पाहि—'नॄन्+पाहि' इस अवस्था में 'नॄन् पे' सूत्र से नॄन् के अन्तिम न् के स्थान में रुत्व तथा अनुबन्धलोप होने पर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से अनुनासिक तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होते हैं पश्चात् 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग को सत्व की प्राप्ति होती है, उसको बाधकर 'कुप्वोः ⌒ क ⌒ पौ च' से उपध्मानीय हो जाने पर 'नॄँ ⌒ पाहि' सिद्ध होता है। अनुनासिक के अभाव-पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो जाने पर 'नॄं ⌒ पाहि' सिद्ध होता है।

उपध्मानीय के अभाव-पक्ष में रुत्व, अनुनासिक और विसर्ग हो जाने पर 'नॄँः पाहि' सिद्ध होता है। अनुनासिक के अभाव-पक्ष में अनुस्वार होने पर 'नॄंः पाहि' बनता है। रुत्व के अभाव-पक्ष में 'नॄन् पाहि' ज्यों का त्यों रह जाता है। तस्य षष्ठ्यन्त, परम् प्रथमान्त, आम्रेडितम् प्रथमान्त। जिसका उच्चारण दो बार किया गया हो उसके दूसरे भाग की आम्रेडित संज्ञा हो। कान् द्वितीयान्तानुकरणक लुप्त षष्ठ्यन्त, आम्रेडिते सप्तम्यन्त। पर में आम्रेडितसंज्ञक वर्ण के रहने पर कान् के नकार के स्थान में रु आदेश हो काँस्कान्—'कान्+कान्' इस अवस्था में 'तस्य परमाम्रेडितम्' से दूसरे 'कान्' की आम्रेडित संज्ञा होने पर 'कानाम्रेडिते' से पूर्व कान् के नकार को रुत्व तथा अनुबन्ध लोप होते हैं, फिर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' सूत्र से अनुनासिक, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग और 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' से विसर्ग को सत्व होने पर 'काँस्कान्' सिद्ध होता है। अनुनासिक के अभाव-पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होने पर 'कांस्कान्' रूप बनता है। छे सप्तम्यन्त, च अव्यय। पर में छकार के रहने पर ह्रस्व वर्ण को तुक् का आगम हो। शिवच्छाया—'शिव+छाया' इस अवस्था में 'छे च' से तुक् आगम व के बाद हुआ, उसका अनुबन्धलोप होने पर 'शिव त् छाया' इस अवस्था में 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व दकार हुआ, फिर 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व जकार और 'खरि च' से चर्त्व चकार होने पर 'शिवच्छाया' सिद्ध होता है। पदान्तात् पञ्चम्यन्त, वा अव्यय। पर में छकार के रहने पर पदान्त दीर्घ को तुक् आगम हो विकल्प से। लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मी+छाया' इस अवस्था में 'पदान्ताद्वा' सूत्र से तुक् आगम तथा अनुबन्धलोप होने के बाद जश्त्व, श्चुत्व और चर्त्व होने पर' लक्ष्मीच्छाया' सिद्ध होता है। तुक् आगम के विकल्प-पक्ष में 'लक्ष्मीछाया' ज्यो का त्यों रह जाता है।

टिप्पणी—**नॄँ॒ पाहि**—मनुष्यों की रक्षा करो। **काँस्कान्**—किन-किन को। **शिवच्छाया**—शंकर जी की छाया। **लक्ष्मीच्छाया**—लक्ष्मी की छाया। छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' इत्यमरः।

॥ इति हल्सन्धिप्रकरणम् ॥

हल्सन्धि का प्रकरण समाप्त

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

विसर्जनीयस्य सः ८। ३। ३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस्त्राता ।

वा शरि ८। ३। ३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते । हरिश्शेते ।

ससजुषो रुः ८। २। ६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुष् शब्दस्य च रुः स्यात् ।

अतो रोरप्लुतादप्लुते ६। १। ११३॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः ।

हशि च ६। १। ११४॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः ।

विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्त, सः प्रथमान्त । पर में खर् के रहने पर विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हो। विष्णुस्त्राता—'विष्णुः+त्राता' इस अवस्था में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग के स्थान में स् हो जाने पर 'विष्णुस्त्राता' सिद्ध होता है । वा अव्यय, शरि सप्तम्यन्त । पर में शर् के रहने पर विसर्ग के स्थान में विसर्ग आदेश हो विकल्प से। हरिः शेते—'हरिः+शेते' इस अवस्था में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग के स्थान में सत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु उसको बाधकर 'वा शरि' से विसर्ग को विसर्ग ही हो जाता है; फलतः 'हरिः शेते' सिद्ध होता है । विसर्ग आदेश के विकल्प पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से सत्व तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व होने पर 'हरिश्शेते' रूप बनता है । ससजुषः षष्ठ्यन्त, रुः प्रथमान्त । पदान्त सकार और सजुष् शब्द के ष् के स्थान में रु आदेश हो । अतः पञ्चम्यन्त, रोः षष्ठ्यन्त, अप्लुतात् पञ्चम्यन्त, अप्लुते सप्तम्यन्त । पर में यदि अप्लुत अत् हो तो अप्लुत अत् के आगे रु सम्बन्धी रेफ के स्थान में उत्व हो (अर्थात् पूर्व यदि ह्रस्व 'अ' आए और बाद को भी ह्रस्व 'अ' आए तो र् का उ हो जाता है) । शिवोऽर्च्यः—'शिवस्+अर्च्यः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' सूत्र से रुत्व तथा 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' सूत्र से रु

को उत्त्व होने पर 'शिव उ अर्च्यः' इस दशा में 'आद्गुणः' से गुण एवम् 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूप होने पर 'शिवोऽर्च्यः' सिद्ध होता है। हशि सप्तम्यन्त, च अव्यय। पर में हश् के रहते पर अप्लुत अत् से परे रु सम्बन्धी रेफ के स्थान में उकार हो। शिवो वन्द्यः--'शिवस्+वन्द्यः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से रुत्व तथा 'हशि च' से उत्व होने पर 'शिव उ वन्द्यः' इस अवस्था में 'आद्गुणः' से गुण होने पर 'शिवो वन्द्यः' सिद्ध होता है।

टिप्पणी--विसर्ग के दो भेद होते हैं--एक सजात और दूसरा रजात। सकार के स्थान में रेफ होकर जो विसर्ग होता है उसे सजात कहते हैं। जैसे--उच्चैस्=उच्चैः, निस्=निः इत्यादि (कहीं षकार के स्थान में भी रेफ होकर विसर्ग होता है, जैसे--सजुष्=सजूः)। स्वाभाविक या ऋकारस्थानिक रेफ के स्थान में जो विसर्ग होता है उसे रजात विसर्ग कहते हैं। जैसे--(स्वाभाविक) प्रातर्=प्रातः, पुनर्=पुनः इत्यादि और (ऋकार स्थानिक) मातर्=मातः, पितर्=पितः इत्यादि (कहीं नकार के स्थान में भी रेफ होकर विसर्ग होता है, जैसे--अहन्=अहः)। **विष्णुस्त्राता**--विष्णु रक्षक (हैं)। हरिः शेते--विष्णु सोते हैं। **शिवोऽर्च्यः**--शङ्कर पूजनीय (हैं)। **शिवो वन्द्यः**--शङ्कर वंदनीय (हैं)।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८। ३। १७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि। देवा इह। देवायिह। भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते।

हलि सर्वेषाम् ८। ३। २२॥

भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

रोऽसुपि ८। २। ६९॥

अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

भोभगोअघोअपूर्वस्य षष्ठ्यन्त, यः प्रथमान्त, अशि सप्तम्यन्त। भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक और अवर्णपूर्वक रु सम्बन्धी रेफ के स्थान में य् आदेश हो अश्

के परे (अर्थात् यदि स् के स्थान में आदिष्ट र् के पूर्व भो, भगो, अघो और ह्रस्व या दीर्घ अ हो और उसके अनन्तर अश् प्रत्याहार का वर्ण हो तो र् को य् आदेश होता है) । देवा इह+'देवास्+इह' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से स् को रुत्व, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से रु को य आदेश और 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार का लोप होने पर 'देवा इह' सिद्ध होता है । यलोप के अभाव-पक्ष में 'देवा-यिह' रूप होता है । भोस्, भगोस् और अघोस्—ये तीनों सकारान्त निपातन हैं। इनके सकार को रुत्व और यत्व करने पर । हलि सप्तम्यन्त, सर्वेषाम् षष्ठ्यन्त । पर में हल् के रहने पर भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक यकार का लोप हो, सभी के मत से । भो देवाः—'भोस्+देवाः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से रु को यत्व और 'हलि सर्वेषाम्' से यलोप होने पर 'भो देवाः' सिद्ध होता है । भगो नमस्ते— भगोस् +नमस्ते' इस अवस्था में पूर्ववत् रुत्व, यत्व और यलोप होने पर 'भगो नमस्ते' सिद्ध होता है । अघो याहि—'अघोस्+याहि' इस अवस्था में पूर्ववत् रुत्व, यत्व और यलोप होने पर इसकी सिद्धि होती है । रः प्रथमान्त, असुपि सप्तम्यन्त । अहन् को रेफ आदेश हो, किन्तु सुप् के परे न हो । (अर्थात् यदि अहन् शब्द के परे विभक्तियों को छोड़कर कोई स्वर या हश् प्रत्याहार आये तो न् को र् आदेश होता है) । अहरहः—'अहन्+अहः' इस अवस्था में 'रोऽसुपि' से न् के स्थान में र् हो जाने पर 'अहरहः' सिद्ध होता है। 'अहर्गणः—'अहन्+गणः' इस अवस्था में 'रोऽसुपि' से रत्व होने पर 'अहर्गण:' सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—देवा इह—देवता लोग यहाँ (हैं) । **निपाताः**—वे शब्द, जिनके बनने के नियम का पता न हो या जो व्याकरण के नियमों से सिद्ध न हों । **भो देवाः**—हे देवताओ । **भगो नमस्ते**—हे भगवन् ! आपको नमस्कार । **अघो याहि**—हे अघवन्=पापपरायण ! जाओ । **अहरहः**—प्रतिदिन । **अहर्गणः**—दिनों का समूह ।

रो रि ८। ३। १४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ।

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ८। ३। १११॥

ढ रेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । अणः किम् ? तृढः । वृढः । मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्वे रो रीति लोपे च प्राप्ते ।

विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते । पूर्वत्रासिद्धमिति रो रीत्यस्याऽसिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः ।

रः षष्ठ्यन्त, रि सप्तम्यन्त । पर में रेफ के रहने पर रेफ का लोप हो (अर्थात् र् के बाद यदि र् आये तो र् का लोप हो जाता है) । ढ्रलोपे सप्तम्यन्त, पूर्वस्य षष्ठ्यन्त, दीर्घः प्रथमान्त, अणः षष्ठ्यन्त । ढकारलोप और रेफलोप (क्रमशः) निमित्त हैं जिन ढकार और रेफ के, उनके परे पूर्व अण् को दीर्घ हो। पुना रमते—'पुनर्+रमते' इस अवस्था में 'रो रि' सूत्र से पुनर् के रेफ का लोप तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से न के अ को दीर्घ हो जाने पर 'पुना रमते' सिद्ध होता है । हरी रम्यः—'हरिस्+रम्यः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से रुत्व, 'रो रि' से रलोप और 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से दीर्घ होने पर 'हरी रम्यः' सिद्ध होता है । शम्भू राजते—'शम्भुस्+राजते' इस अवस्था में 'हरी रम्यः' की तरह सत्व, रलोप तथा दीर्घ होने पर 'शम्भू राजते' सिद्ध होता है । प्रश्न होता है कि 'ढ्रलोपे'—सूत्र में अण् का ग्रहण क्यों किया । उत्तर—यदि ऐसा नहीं करेंगे तो 'तृढः, वृढः' में इससे दीर्घ होकर 'तॄढः, वॄढः' ऐसे अनिष्ट प्रयोग हो जायेंगे । जैसे—तृह् धातु से क्त प्रत्यय और अनुबन्धलोप होने पर 'तृह् त' इस अवस्था में 'हो ढः' से ह् को ढ् होता है, फिर 'झषस्तथोर्धोऽधः' से तकार को धकार और 'ष्टुना ष्टुः' से धकार को ष्टुत्व ढकार होने पर 'तृढ् ढ' इस अवस्था में 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढकार का लोप होकर 'तृढः' सिद्ध होता है, अब इस सूत्र में अण् के न रहने पर 'तृ' के ऋकार को इससे दीर्घ हो जाएगा । यदि 'अण्' रखते हैं तो यहाँ ऋ अण् नहीं है; क्योंकि अण् प्रत्याहार 'अइउण्' के ण् से बनता है जिसमें ऋ का पाठ नहीं है । इसी तरह 'वृढः' की भी सिद्धि होती है, केवल इसमें धातु वृह् है और सब बातें 'तृढः' की तरह होंगी । 'मनस् रथ' इस अवस्था में रुत्व करने के बाद 'हशि च' से उत्व तथा 'रो रि'

से लोप प्राप्त होते हैं । विप्रतिषेधे सप्तम्यन्त, परम् प्रथमान्त, कार्यम् प्रथमान्त । समान बल वालों के विरोध उपस्थित होने पर परकार्य हो (अर्थात् अष्टाध्यायी में जो सूत्र आगे हो उसी से कार्य हो) । इसके बल से लोप प्राप्त होता है । किन्तु) 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'रो रि' की असिद्धता हो जाने के कारण उत्व ही होता है । मनोरथः—मनस्+रथः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व होने के बाद 'हशि च' से रु को उत्व तथा 'रो रि' से रेफ के लोप की प्राप्ति के अवसर पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से परत्वात् 'रो रि' से लोप ही प्राप्त होता है । किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस अधिकारसूत्र से सपादसप्ताध्यायीस्थ 'हशि च' सूत्र के प्रति त्रैपादिक 'रो रि' सूत्र के असिद्ध हो जाने के कारण 'हशि च' से रु को उत्व ही होता है, फिर 'आद्गुणः' से गुण होने पर 'मनोरथः' सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—**पुना रमते**—फिर रमण करता है । **हरी रम्यः**—हरि रमणीय हैं । **शम्भू राजते**—शंकर शोभित होते हैं । **तृढः**—मरा हुआ । **वृढः**—उद्यत । **तुल्यबलविरोध**—अपने-अपने लक्ष्यों में चरितार्थ दो सूत्रों के (कहीं) एक लक्ष्य में समावेश होने को तुल्यबलविरोध कहते हैं । **मनोरथः**—इच्छा । 'इच्छा काङ् क्षा स्पृहेहा तृट् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः ।

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६। १। १३२।।

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ।

सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६। १। १३४।।

स इत्यस्य सेर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । सेमामविड्ढ प्रभृतिम् । सैष दाशरथी रामः ।

एतत्तदोः षष्ठ्यन्त, सुलोपः प्रथमान्त, अकोः षष्ठ्यन्त, अनञ्समासे सप्तम्यन्त, हलि सप्तम्यन्त । ककाररहित जो एतत् शब्द और तत् शब्द, उनके 'सु' का लोप हो हल् के परे (अर्थात् यदि किसी व्यञ्जन के पूर्व

सस् (सः) अथवा एषस् (एषः) शब्द आए तो उनके स् का लोप हो जाता है) । एष विष्णुः—'एषस्+विष्णुः' इस अवस्था में 'ससजुषो रुः' से प्राप्त रुत्व को बाधकर 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' सूत्र से स् का लोप हो जाने पर 'एष विष्णुः' सिद्ध होता है । स शम्भुः—'सस्+शम्भुः' इस अवस्था में प्राप्त रुत्व को बाधकर 'एतत्तदोः—' इस सूत्र से स् का लोप हो जाने पर 'स शम्भुः' सिद्ध होता है । प्रश्न होता है कि इस सूत्र में 'अकोः' क्यों कहा । उत्तर—यदि ऐसा नहीं कहेंगे तो 'एषको रुद्रः' में इससे सुलोप हो जाने पर 'एषक रुद्रः' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा । 'एषकस्+रुद्रः' इस अवस्था में रुत्व, उत्व और गुण होकर 'एषको रुद्रः' सिद्ध होता है । यदि इस सूत्र में 'ककाररहित' नहीं कहेंगे तो ककारसहित 'एषकस्+रुद्रः' इस अवस्था में रुत्व को बाधकर इससे स् का लोप अनिवार्य हो जायगा, अतएव 'अकोः' कहना चाहिए । इसी तरह यदि इस सूत्र में 'अनञ् समासे' नहीं कहेंगे तो नञ्समासस्थल 'असः शिवः' में 'असस्+शिवः' इस अवस्था में स् का लोप हो जाने पर 'अस: शिवः' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा । यदि इस सूत्र में 'हलि' नहीं कहेंगे तो 'एषोऽत्र' में 'एषस्+अत्र' इस अवस्था में स्वर से परे स् का लोप हो जाने पर 'एष अत्र' ऐसा अनिष्ट प्रयोग हो जायगा । सस् प्रथमान्तानुकरणक-लुप्त-षष्ठ्यन्त, अचि सप्तम्यन्त, लोपे सप्तम्यन्त, चेत् अव्यय, पादपूरणम् प्रथमान्त । यदि लोप होने पर ही चरण की पूर्ति होती हो तो अच् से परे सस् (तत् शब्द) सम्बन्धी सु का लोप हो (अर्थात् यदि सस् के सकार के परे स्वर हो और पद्य के पाद की पूर्ति इस लोप के द्वारा ही हो तो स् का लोप हो जाता है) सेमामविड्ढि प्रभृतिम्—'सस्+इमामविड्ढि प्रभृतिम्' इस अवस्था में 'सोऽचि लोपे चेत्पाद-पूरणम्' सूत्र से स् का लोप तथा 'आद्गुणः' से गुण हो जाने पर 'सोमामविड्ढि प्रभृतिम्' सिद्ध होता है । सैष दाशरथी रामः—'सस्+एष दाशरथी रामः' इस अवस्था में 'सोऽचि—' सूत्र से स् का लोप तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हो जाने पर 'सैष दाशरथी रामः' सिद्ध होता है ।

टिप्पणी—एष विष्णुः—यह विष्णु (हैं) । **स शम्भुः**—वह शङ्कर (हैं) । **एषको रुद्रः**—यह रुद्र (हैं) । **असः शिवः**—वह शिव नहीं (हैं) **एषोऽत्र**—यह यहाँ (हैं) । **सेमामविडढि प्रभृतिम्**—यह (वेद की) ऋचा का एक पाद है ।

सैष दाशरथी रामः——यह अनुष्टुप् छन्द का एक पाद है। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार हैं—'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः। सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः' ।। इसके प्रतिपाद में आठ-आठ अक्षर हैं, किन्तु सुलोप होने पर ही यह स्थिति है। सुलोप के अभाव में रुत्व, यत्व और यलोप होकर 'स एषः' ऐसा प्रयोग हो जायगा, जिससे प्रत्येक पाद में एक-एक अक्षर बढ़ जाने से पाद-पूर्ति असंभव हो जायगी।

।। इति विसर्गसन्धिः ।।

विसर्ग-सन्धि समाप्त

इति पञ्चसन्धिप्रकरणम्।

पाँच प्रकार के वर्णों की सन्धि का (मिलन) प्रकरण समाप्त।

टिप्पणी——पंचजातीयानां वर्णानां स्थाने सन्धिः पञ्चसन्धिः तस्य प्रकरणम्। पाँच सन्धियों में से अच्सन्धि, हल्सन्धि और विसर्गसन्धि कही जा चुकी हैं। चौथी सन्धि स्वादिसन्धि है। इसका प्रकरण सिद्धान्तकौमुदी में आया है। पाँचवीं सन्धि के बारे में कुछ लोग प्रकृतिभाव को बताते हैं और कुछ लोग अनुस्वार-परसवर्ण को कहते हैं।

* इति शम *

वर्णों के उत्पत्ति-स्थान

अ क ख ग घ ङ ह ।: ∠ कंठ ।
इ च छ ज झ ञ य श ∠ तालु ।
ऋ ट ठ ड ढ ण र ष ∠ मूर्धा ।
लृ त थ द ध न ल स ∠ दन्त ।
उ प फ व भ म ≍ प ∠ ओष्ठ ।
ञ म ङ ण न ∠ नासिका ।
ए ऐ ∠ कंठ-तालु ।
ओ औ ∠ कंठ-ओष्ठ ।
व ∠ दंत-ओष्ठ ।
≍ क ∠ जिह्वा-मूल ।
ं ∠ नासिका ।

आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न

आभ्यन्तर प्रयत्न

स्पर्श वर्ण =क से म तक ∠ स्पृष्ट ।
अन्त:स्थ वर्ण =य र ल व ∠ ईषत्स्पृष्ट ।
ऊष्मा वर्ण =श ष स ह ∠ ईषद्विवृत ।
स्वर वर्ण =अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ∠ विवृत ।
प्रयोग में ह्रस्व अ ∠ संवृत ।

बाह्य प्रयत्न

ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स	∠ विवार, श्वास, अघोष ॥
ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द	∠ संवार, नाद, घोष ।
क ग ङ य च ज ञ र ट ड ण ल त द न व प ब म	∠ अल्पप्राण
ख घ श छ झ ष ठ ढ स थ ध ह फ भ	∠ महाप्राण ।